आज्ञामें ये सब रहते हैं, यथा—*'माया जीव करम कुलि काला।'''''''करि बिचार जिय देखहु नीके। राम रजाइ सीस सबही के॥'* (२। २५४) वही जहाँ राजा होगा वह अपनी प्रजाको कब इनसे पीड़ित होने देगा। इससे यह भी जनाया कि राजा रामचन्द्रजीको प्रजा प्राणप्रिय है, तभी तो कालादिकृत दुःख किसीको नहीं व्याप्त होने देते।

भूमि सप्त सागर मेखला। एक भूप रघुपति कोसला॥ १॥
भुअन अनेक रोम प्रति जासू। यह प्रभुता कछु बहुत न तासू॥ २॥
सो महिमा समुझत प्रभु केरी। यह बरनत हीनता घनेरी॥ ३॥
सोउ* महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि यह चरित तिन्हहु रति मानी॥ ४॥
सोउ जाने कर फल यह लीला। कहहिं महा मुनिबर दमसीला॥ ५॥

शब्दार्थ—**मेखला**=वह वस्तु जो किसी दूसरी वस्तुके मध्यभागमें उसे चारों ओरसे घेरे हो। करधनी। **हीनता**=क्षुद्रता, तुच्छता।

अर्थ—सात समुद्र जिस पृथ्वीकी मेखला हैं, ऐसी सप्तद्वीपवाली पृथ्वीके एक राजा कोशलमें श्रीरामजी हुए॥ १॥ जिसके एक-एक रोममें अनेक ब्रह्माण्ड हैं, (उसको सप्तद्वीपका राजा कहना) यह उसकी प्रभुता कुछ बहुत नहीं है॥ २॥ प्रभुकी वह महिमा समझनेसे (उसके विषयमें) यह कहना (कि वह सप्तद्वीपका राजा है) उसकी बड़ी भारी हीनता है† ॥ ३॥ (तब क्यों कहा, उसपर कहते हैं कि) हे खगेश! वह भी महिमा जिनने जानी (भाव कि सब नहीं जान सकते) फिर वे भी इस (सगुण) चरितमें प्रीति करने लगे॥ ४॥ (इसका कारण बताते हैं कि) उस महिमाके भी जाननेका फल यह सगुण लीला है—इन्द्रियदमन करनेवाले जितेन्द्रिय महामुनिश्रेष्ठ ऐसा कहते हैं (भाव कि कुछ मैं अपनी ओरसे नहीं कहता, महामुनीश्वर ऐसा कहते हैं, इसीसे मैंने भी कहा)॥ ५॥

नोट—१ *'सप्त सागर मेखला भूमि'* इति। प्रियव्रतके रथके पहियेसे जो सात लीकें बनीं वे ही सात समुद्र हुए, उन्हीं सात समुद्रोंद्वारा बीचकी पृथ्वीसे जम्बू, प्लक्ष, शाल्मलि, कुश, क्रौञ्च, शाक और पुष्कर—ये सात द्वीप बन गये। इन द्वीपोंका विस्तार उत्तरोत्तर दूना है। ये द्वीप समुद्रोंके बहिर्भागमें चारों ओर फैले हुए हैं। जैसे समुद्रके बाद एक द्वीप है वैसे ही उस द्वीपके बाद एक समुद्र है। खारी जलका, ऊखके रसका, मदिराका, घृतका, दूधका, दहीका और शुद्ध जलका—ये सातों समुद्र पूर्वोक्त सातों द्वीपोंको खाँईके समान चारों ओरसे घेरे हुए हैं। जिस द्वीपको जो समुद्र घेरे हुए है, वह समुद्र विस्तारमें उसी द्वीपके बराबर है। ये सातों समुद्र ऊपरी द्वीपोंसे अलग ही अलग हैं और भीतरी द्वीपोंको चारों ओरसे घेरे हुए हैं।—(भा० ५। १। ३१—३३)

टिप्पणी—१ *'भुअन अनेक''''''''बहुत न तासू'* इति। अयोध्यापुरीके राजाको सप्तद्वीपका राजा कहनेसे लोग कहते होंगे कि श्रीरामजीकी बहुत बड़ाई की; इसीपर कहते हैं कि यह बड़ाई बहुत नहीं है।

नोट—*'सोउ महिमा खगेस''''''''*' इति। भाव कि प्रभुकी यह महिमा जान लेनेपर कि श्रीरघुनाथजी तो वह हैं जिनके रोम-रोममें अगणित ब्रह्माण्ड हैं, उन महापुरुषोंने उनकी माधुर्यलीलामें ही प्रेम किया है। श्रीशुकदेवजीने भी यह कहकर—कि जिन्होंने देवताओंकी प्रार्थनासे लीलावतार धारण किया था, जिनके समान किसी दूसरेका प्रभुत्व नहीं है, उन श्रीरामचन्द्रजीने अस्त्र-शस्त्रद्वारा राक्षसोंका नाश किया, समुद्रमें सेतु बाँधा, यह उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है तथा उन्होंने जो शत्रुओंके मारनेके लिये वानरोंकी सहायता ली, यह भी उनकी लीलामात्र ही है, भला वानर उनकी सहायता क्या कर सकते हैं—फिर कहा है कि ऋषि लोग उनके पवित्र यशको

* 'सो महिमा''''''''''—का०, १८१७, १८१८। सोउ—भा० दा०, १८४२।
† वीर—'उत्क्षेप' और 'प्रथम अधिक' अलङ्कार है।

अब भी गाया करते हैं, देवता तथा राजा लोग अपने मुकुटोंसे उनके चरण-कमलोंकी सेवा करते हैं, मैं उन श्रीरामजीकी शरण हूँ। यथा—'**नेदं यशो रघुपतेः सुरयाच्ञयाऽऽत्तलीलातनोरधिकसाम्यविमुक्तधाम्नः। रक्षोवधो जलधिबन्धनमस्त्रपूगैः किं तस्य शत्रुहनने कपयः सहायाः॥**' (भा० ९। ११। २०) **यस्यामलं नृपसदस्सु यशोऽधुनापि गायन्त्यघघ्नमृषयो दिगिभेन्द्रपट्टम्। तं नाकपालवसुपालकिरीटजुष्टपादाम्बुजं रघुपतिं शरणं प्रपद्ये॥**' (२१) महर्षि अगस्त्यजीने भी महिमा जानी पर प्रेम माधुर्यलीला रूपमें ही किया। वे स्वयं कहते हैं—'*तुम्हरेइ भजन प्रभाव अघारी। जानउँ महिमा कछुक तुम्हारी॥ ऊमरि तरु बिसाल तव माया। फल ब्रह्मांड अनेक निकाया॥……ते फल भच्छक कठिन कराला। तव भय डरत सदा सोउ काला॥ ते तुम्ह सकल लोकपति स्वामी।……जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥*' (३। १३। ५—१३) इसी तरह उनके शिष्य श्रीसुतीक्ष्णजी प्रभुका ऐश्वर्य जानते हैं पर हृदयमें काननचारी रूपको बसाये थे। यथा—'*जदपि बिरज ब्यापक अबिनासी। सबके हृदय निरंतर बासी॥ तदपि अनुज श्रीसहित खरारी। बसतु मनसि मम काननचारी॥*' (३। ११। १७-१८) श्रीभुशुण्डिजीकी कथा तो इसी काण्डमें है, इन्होंने प्रभुका ऐश्वर्य आँखों देखा। वे कहते हैं कि '*जुग अंगुल कर बीच सब राम भुजहि मोहि तात॥*' (७९) '……*जो नहिं देखा नहिं सुना जो मनहू न समाइ। सो सब अद्भुत देखेउँ बरनि कवनि बिधि जाइ॥*' (८०) '……*देखि चरित यह सो प्रभुताई।*' (८३। १) पर इनकी दिनचर्या क्या है, सो देखिये—'*तजि हरिभजन काज नहिं दूजा॥ बट तर कह हरि कथा प्रसंगा। आवहिं सुनहिं अनेक बिहंगा॥ रामचरित बिचित्र बिधि नाना। प्रेम सहित कर सादर गाना॥*' (५७। ६—८) ऐश्वर्य जानकर चरितमें क्यों प्रेम करते हैं, इसका कारण आगे कहते हैं।

पं०—'*सोउ महिमा*……' का आशय यह है कि बुद्धि प्रभुकी अनन्ततामें लय हो जाती है और इस लीलाका रस लेकर प्रसन्न होती है।

रा० प्र०—भाव कि पाँचों परम विभूति वैराग्य, पारमेष्ठ्य, प्राजापत्य, साम्राज्य, स्वाराज्य, इन्हींमें और इन्हींकी निश्चय होती है।

वि० त्रि०—'*भुअन अनेक रोम प्रति जासू*' इस महिमाको जिसने जाना, उसे वहाँ विश्राम नहीं मिला। अर्जुन कहने लगे—'**दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास। तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्ते॥**' न तो मुझे दिशाओंका ज्ञान हो रहा है न कहीं सुख मिल रहा है। हे जगन्निवास प्रभो! कृपा करो। हे सहस्रभुजावाले! फिर उसी चतुर्भुजी मूर्तिमें हो जाओ। सती आँख मींचकर रास्तेमें ही बैठ गयीं, भुशुण्डिजी त्राहि कहकर पृथ्वीपर गिर पड़े। जिसने-जिसने उस महिमाको देखा, किसीका होश ठिकाने न रहा, सबने लीलामयी मधुर मूर्तिका ही दर्शन करना चाहा। अगस्त्यजी कहते हैं—'*जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानौं जानौं। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानौं॥*'

'*भुअन अनेक रोम प्रति जासू*' इस रूपको जिन महानुभावोंने जान पाया, उन्हीं महात्माओंने लीलाविग्रहके आविर्भावके लिये घोर तप किया। यथा—मनु-शतरूपा तथा कश्यप-अदिति। उसीका फल यह है कि सरकार नररूप धारण करके लीला कर रहे हैं अर्थात् लीला-विग्रह उक्त ज्ञानका फल रूप है, इसीसे जगत्का कल्याण होता है, यथा—'**अवतारेषु यद्रूपं तमर्चन्ति दिवौकसः। अपश्यन्तः परं रूपं नमस्तस्मै महात्मने॥**' (विष्णुपुराण) अवतारोंमें भगवान् जो रूप धारण करते हैं, उसीकी पूजा देवता लोग करते हैं, उनके परमरूपके देखनेमें वे समर्थ नहीं हैं, उस महात्माको नमस्कार है।

टिप्पणी—२ '*सोउ जाने कर फल यह लीला।*' इति। (क) भाव कि महिमा जान लेना साधन है और सगुण लीला उसका फलस्वरूप है; क्योंकि वही परमात्मा भक्तोंके हितार्थ प्रत्यक्ष हुआ। (ख) '*कहहिं महा मुनिबर दमसीला*'—भाव कि परमात्माका जानना साधन है और सगुण लीलामें प्रीति करना फल है—यह कहनेसे लोगोंको प्रतीति न होगी अतएव प्रमाण देते हैं कि महामुनिवर अगस्त्यजी, याज्ञवल्क्यजी, नारदजी, सनकादि जो स्वभावसे ही इन्द्रियजित् हैं वे ऐसा कहते हैं; क्योंकि जो प्रभु ऐसी प्रभुताको त्यागकर लीलाहेतु ऐसी हीनता अङ्गीकार करते हैं, उनको जाननेवाले महामुनि हैं।

पं० रा० व० श०—*'सोउ जाने कर फल यह लीला'* और *'सोउ महिमा खगेस जिन्ह जानी। फिरि यह चरित तिन्हहु रति मानी॥'* का भाव कि वह महिमा केवल जाननेके लिये है और भक्ति करना, माधुर्यका सुख लेना, यह करनेके लिये है। प्रेम इसमें करे और ऐश्वर्य वह जाने।

वै०—भाव यह कि ऐश्वर्यरूप जो साकेतमें है उसके जाननेकी गति तो किसीमें है नहीं, शिवादि ध्यान कर पाते हैं तब और कोई कैसे पहुँच सकता है, पर वही प्रभु अवतीर्ण हो लोकमें उन्होंने कृपा, सौलभ्यादि गुण प्रकट किये, लोकके जीवोंको कृतार्थ किया—यह लीला ऐश्वर्यरूप जाननेका फल है।

रा० प्र०—विराट्‌रूप जाननेका फल इस रूपकी लीला है; जैसे पैसा-रुपयाके भाव रूप जाननेका फल अशर्फी है, इसीसे माताको अद्भुत रूप दिखा अपना रूप छिपाया।

वि० त्रि०—उस महिमाके जाननेवालोंके भी इस चरितमें रति माननेका कारण देते हैं कि यह लीला उस महिमाके जाननेका फल है। उस महिमाके जाननेवाले ब्रह्मादिककी प्रार्थनापर ही सरकारने अवतार ग्रहण करके यह लीला की है। जिस महिमाको वे जानते थे, उस महिमावाली मूर्तिसे काम न चला। जिस भाँति वृक्षसे काम नहीं चलता, उसके फलसे काम चलता है; उसी भाँति *'भुअन अनेक रोम प्रति जासू'* से काम न चला। उन्होंने रामरूपसे अवतीर्ण होकर लीला की, तब संसार कृतकृत्य हो सका। अतः *'तब तब कथा मुनीसन्ह गाई', 'जेहि कहत गावत सुनत समुझत परम पद नर पावई।'*

नोट—उपर्युक्त लेखोंका भाव यह है कि केवल ऐश्वर्य जान लेनेसे भवसे छुटकारा नहीं मिल सकता। मुमुक्षुको तो भवपार होनेके लिये केवल मोक्षसाधन-विषयक वस्तुका ही ग्रहण करना चाहिये। और भगवान् अवतार लेकर जो लीला करते हैं उससे मनुष्य बिना प्रयासके ही भवपार हो जाता है; अतः इसीमें सब प्रेम करते हैं।

रामराज कर सुख* संपदा। बरनि न सकै फनीस सारदा॥ ६॥
सब उदार सब पर उपकारी। बिप्रचरन सेवक नर नारी॥ ७॥
एक नारि ब्रत रत सब झारी। ते मन बच क्रम पति हितकारी॥ ८॥

अर्थ—रामराज्यकी सुख-सम्पत्ति शेष-शारदा नहीं वर्णन कर सकते॥ ६॥ सब उदार हैं, सभी परोपकारी हैं। सब स्त्री-पुरुष ब्राह्मणोंके चरणोंके सेवक हैं॥ ७॥ सब पुरुषमात्र (एक भी न छूटकर सब) एक पत्नीका व्रत रखते हैं और वे (स्त्रियाँ भी) मन-वचन-कर्मसे पतिका हित करनेवाली हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'राम राज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥'* यहाँसे *'सुख'* का वर्णन है और *'प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनिखानी'* एवं *'डारहि रतन तटन्हि नर लहहीं।'* (२३। ९) इत्यादि *'संपदा'* का वर्णन है। (ख) शेषके हजार मुख हैं, सरस्वतीके अनन्त मुख हैं, वह सबके मुखमें बैठकर बोलती हैं। वे नहीं कह सकते तब एक जीभ, एक मुखवाले वक्ता क्या कहेंगे?

२ *'सब उदार'*……' इति। (क)—सम्पदा कहकर उदारता और परोपकार कहा; क्योंकि सम्पत्तिवान्‌का यही धर्म है कि उदार हो परोपकार करे। (ख) *'सब'* का भाव कि किसी राज्यमें सब उदार, सब परोपकारी इत्यादि नहीं होते, पर रामराज्यमें सब हैं। [उदार और परोपकारी दोनों कहनेका भाव कि साधारणतया उदार लोग भी कुछ अपना हेतु लिये उदार होते हैं पर ये ऐसे नहीं हैं। (रा० प्र०) सुभाषितकार कहते हैं कि **'शतेषु जायते शूरः सहस्रेषु च पण्डितः। वक्ता शतसहस्रेषु दाता भवति वा न वा॥'** सौमें कहीं एक शूर निकलता है, हजारोंमें एक पण्डित और लाखोंमें एक वक्ता, परन्तु दाता हो या न हो। इससे

* 'रामराज कर सुख संपदा' में छन्दोभङ्ग होता है पर 'सुष' ही पाठ सर्वत्र है। 'ष' को दोहराकर पढ़नेसे छन्द ठीक हो सकता है। गौड़जीका मत है कि यदि 'सूख' पढ़ लें तो भावमें गम्भीरता भी आ जायगी। प्र० स्वामीका मत है कि इस चरणमें मात्राकी न्यूनता करके कवि जनाते हैं कि इनका वर्णन करनेमें मेरी वाणी लज्जित और असमर्थ है। दूसरे चरणमें यह भाव सोदाहरण सूचित किया गया।

दाता होना अत्यन्त दुर्लभ जनाया। आगे भी कहा है—*'कबिबृन्द उदार दुनी न सुनी।'* *'सब पर उपकारी'* कहकर जनाया कि स्त्री-पुरुष संत हैं। परोपकार संत-लक्षण है, यथा—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥'* (प० प० प्र०)] (ग) नर-नारी विप्रचरण सेवक हैं अर्थात् स्त्री जल देती है, पुरुष चरण धोते हैं, स्त्री रसोई बनाती है, पुरुष परोसकर भोजन कराते हैं। सब उदार हैं यह कहकर विप्रचरण-सेवक कहनेका भाव कि ब्राह्मणोंको बहुत दान देते हैं, उनका बहुत उपकार करते हैं।

३ (क) *'एक नारि ब्रत·········'* इति। श्रीरामजीका राज्य है, श्रीरामजी रक्षक हैं, इसीसे काम किसीको बाधा नहीं करता। पूर्व भी रक्षा करते थे। यथा—*'धरी न काहूँ धीर सब के मन मनसिज हरे। जे राखे रघुबीर ते उबरे तेहि काल महँ।'* (बा० ८५), *'तिन्ह की न काम सकै चापि छाँह। तुलसी जे बसहिं रघुबीर बाँह॥'* (गी० २। ४९), और अब तो अपने राज्यमें सभीकी रक्षा करते हैं। (ख) *'ते मन-बच-क्रम पतिहितकारी'* इति। अर्थात् पतिपदमें प्रेम रखती हैं, *'एकै धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥'* (आ०) इसीसे पतिका हित है। पतिव्रता स्त्रीसे पतिका बड़ा उपकार होता है। जलन्धर, शङ्खचूड़ और वृन्दा, तुलसी, शुभा, सावित्री, अनसूयाजी आदिकी कथाएँ प्रसिद्ध हैं। यथा—*'परम सती असुराधिप नारी। तेहि बल ताहि न जितहिं पुरारी॥'* (१। १२३। ७), *'अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय'* (३। ५) तथा *'अत्रि प्रिया निज तप बल आनी।'* (२। १३२। ५) देखिये।

नोट—यह स्त्री-पुरुषोंका परस्पर व्रत 'अन्योन्य अलङ्कार' है। यह '**यथा राजा तथा प्रजाः**' का एक अपूर्व और अनुपम उदाहरण है। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं एकपत्नीव्रत हैं और वह भी कैसे दृढ़व्रत कि जब श्रीसीताजीके त्यागकी लीला रची गयी तब उसके पश्चात् यज्ञ करनेके लिये मुनियोंके कहनेपर भी आपने दूसरा विवाह न किया, वरन् स्वर्णकी सीतासे ही धर्मनिर्वाह किया। राजा जब ऐसे दृढ़व्रत हैं तब प्रजा क्यों न वैसा ही आचरण अपना बनाती? प्रजाको एकपत्नीव्रत बनानेके लिये आप स्वयं गृहस्थीमें रहकर राजर्षियोंका आचरण करते थे—'**एकपत्नीव्रतधरो राजर्षिचरितः शुचिः। स्वधर्मं गृहमेधीयं शिक्षयन्स्वयमाचरन्॥**' (भा० ९। १०। ५५) जब पुरुष एकपत्नीव्रत हो गये तब वे दूसरी ओर ताकेंगे कब? किसीपर कुदृष्टि ही नहीं तब किसीका पातिव्रत्य भी खण्डित होनेकी सम्भावना कहाँ? असुरोंके राज्यमें इसका ठीक उलटा था। जब राजा ही परस्त्रीके पातिव्रत्यका भङ्ग करना अपना खेल-तमाशा समझते थे तब प्रजा क्यों न ऐसा करती? परस्त्रीको रास्ते चलते छेड़ना तो उनके लिये एक साधारण बात है, घरसे परायी बहू, बेटी, स्त्रियोंको निकाल ले जाने लगे। आजकल भी Courtship प्राग्विवाह प्रेमलीलामें ही न जाने कितने विवाह हो जाते हैं—अनाथालयोंके अधिकांश कारण ये ही सब दुराचरण हैं।

दो०—दंड जतिन्ह कर भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।
जीतहु मनहि सुनिअ अस रामचंद्र के राज*॥२२॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें दण्ड संन्यासियोंके हाथमें और भेद जहाँ नाचमण्डलीमें नाचनेवाले होते थे वहीं और 'जीतो' (यह शब्द) मनहीके लिये (कामादिके जीतनेके प्रसङ्गमें ही) सुननेमें आता था॥ २२॥

नोट—१ राजनीतिके चार अङ्ग साम, दान, भेद और दण्ड हैं, यथा—*'साम दान अरु दंड बिभेदा। नृप उर बसहिं नाथ कह बेदा॥'* (६। ३७। ९) ये सब नीतियाँ शत्रुको जीतनेमें काममें लायी जाती हैं। शत्रुके बीचमें परस्पर फूट करा देना *'भेद'* नीति है। अपराधीको सजा देना दण्डनीति है। २—*'दंड जतिन्ह कर'* का भाव कि रामराज्यमें तो सब *'चलहिं स्वधर्म निरत श्रुतिनीती'*, *'चारिहु चरन धरम जग माहीं'* था, कोई अपराध करता ही न था, अतः *'दंड'* देनेका काम ही न पड़ता था, कोई दण्डका काम ही न करता था तब दण्ड क्यों मिलता? ताजीराते हिन्द (पेनलकोड) की यहाँ आवश्यकता कहाँ, जहाँ राजा अपने अनुपम शुद्ध आचरणसे प्रजाको सच्चरित बना देता है? दण्ड शब्द ही सुननेमें न आता

* जितहु मनहिं अस सुनिअ जग रामचंद्र के राज—(का०)।

था। हाँ! यदि कहीं यह शब्द सुननेमें आता था तो यतियोंके नामके सम्बन्धमें; क्योंकि वे त्रिदंड वा दंड धारण करते हैं। ये दंडी हैं, ये त्रिदंडी हैं, इस कथनमें *'दंड'* शब्द सुननेमें आता था। पर यह *'दंड'* देखनेमात्रका था कि जो यतीको आश्रमके नियमानुसार धारण करना पड़ता है। श्रीपंजाबीजी एक भाव यह कहते हैं कि रामराज्यमें राजाकी ओरसे दंडका तो कहना ही क्या, प्रजातकने छड़ी आदि दंड तकका त्याग कर दिया; क्योंकि श्वान, सर्पादिका भय भी तो राज्यमें न रह गया था; केवल संन्यासियोंके हाथमें दंड होता था, दंडी उनकी संज्ञा ही है। ३—किसी राजासे प्रीति करना बाकी न था। रावणपर विजय करके उन्होंने सबपर विजय पा लिया। प्रीति करनेके लिये कोई शेष न रहा। देकर किसी राजाको राजी कर लेनेकी भी जरूरत न रही। इस तरह साम और दानकी आवश्यकता न रह गयी।

पां०—दंड और भेद दोका वर्णन यहाँ हुआ। अब रहीं दो नीतियाँ, साम और दान। सो इनसे रामराज्य परिपूर्ण है। इन दोनोंको प्रथम कह आये इससे यहाँ न कहा, *'सब नर करहिं परसपर प्रीती'* यह साम है और *'सब उदार सब पर उपकारी'* यह दान है।

नोट—४ *'भेद जहँ नर्तक नृत्य समाज।'* जब कोई शत्रु हो तो *'भेद'* नीतिसे काम लिया जाय। शत्रुही न थे तब भेद नीतिका व्यवहार कैसे सुननेमें आता? *'भेद'* शब्द नाममात्रका प्रयोग नृत्य करनेवालोंके समाजमें ही रह गया था। क्योंकि नाचनेमें सुरतालके भेद होते हैं।—यहाँ 'परिसंख्या अलंकार' है। श्री आदि राग और मयूरी आदि नृत्यके भेद हैं।

५—*'जीतहु मनहि।'* राजाका कोई शत्रु नहीं है तब 'जीतो' यह शब्द कहाँ सुनायी पड़े? हाँ, इसका नाममात्र 'मन' के सम्बन्धमें सुन पड़ता है कि अमुक बड़े जितेन्द्रिय हैं, इत्यादि। [या यह कि शत्रु जीतनेको है नहीं इससे लोग कहा करते हैं कि मन बड़ा अजेय शत्रु है, इसको बराबर जीते रहो, जिसमें मनोज-परिवार अंकुरित न हो सके। (रा० प्र०) दंड, भेद, दान कह चुके, अब रही समता। वह यहाँ *'जीतहु मनहि'* से कहा, अर्थात् सब परस्पर यही कहते हैं कि मनको जीतो; क्योंकि बिना इसके समता न आवेगी—भाव कि और कोई ऐसा है ही नहीं जिसे जीतनेकी आवश्यकता हो। (पं० रा० व० श०)] ☞ सारांश यह कि रामराज्यमें जगन्मात्रकी प्रजा सदाचारिणी थी, किसीसे कोई अपराध न होता था, सबमें परस्पर प्रेम था—अतः दंड-भेदादिकी आवश्यकता कभी न पड़ती थी।

☞ ठीक इसी प्रकार बालकाण्डमें *'सखर सुकोमल मंजु दोष रहित दूषन सहित'* श्रीमद्रामायणके विषयमें कहा है। यहाँ व्यंगार्थ वाच्यार्थके बराबर होनेसे 'गुणीभूतव्यंग' है।

६—मिलान कीजिये—आ० रा० राज्यकाण्ड १५, १८ यथा—'**दण्डवार्ता सदा यत्र कृतसंन्यास-कर्मणाम्।**' *'रह्यो दंड इक यतिन हाथमें रागताल महँ भेदू। कुटिलाई केसन महँ देखी श्रम शास्त्रन अरु बेदू॥ १॥ रोष दोष पर, लोभ धर्मपर, काम नारि निज माहीं। बैर पाप तजि और ठौर कहुँ रामराज महँ नाहीं॥ २॥ आश एक प्रभुपद सेवन महँ रह्यो पशुन महँ मोहू। मत्सर रोग बिभव महँ रहिगो कुत्सित बस्तु न कोहू॥ ३॥ रह्यो द्विरदगण महँ मद मंडित हारिलमें हठताई। आतुरता तुरंग बृदन महँ गगन शून्यता छाई॥ ४॥ जड़ताई रत्नन्ह महँ देखी गर्व गुणनको बाढ़ो। बहत एक सरिताजल निर्मल शोचसमरको गाढ़ो॥ ५॥'* (रामस्वयंवर), *'सामको तो काम मुनिवरके मुखन काहि और ठौरमें तो तासो रंचक न काज है। दाम जल भरिबेके काम ही में देखियत दंडको निवास एक कर यतिराज है॥ 'रतनेश' भेद एक सुरके मिलाइबेमें देखो जहाँ होत गान नृत्यको समाज है। साम दाम दंड भेद अनत न देखे कहुँ ऐसो सुखदाई रघुराजजू को राज है॥'*

'नृपति रामके राज्यमें हैं न शूल दुखमूल। लखियत चित्रन में लिखो शंकरके कर शूल॥', *'केशन ही में कुटिलता संचारिनमें संक। लखो रामके राजमें इक शशि माहिं कलंक॥'* *झूलन ही को जहाँ अधोगति केशव गाइय। होम हुतासन धूम नगर एकै मलिनाइय॥ दुर्गति दुर्गनही जो कुटिल गति सरितन ही में। श्रीफलको अभिलाष प्रकट कविकुलके जीमें॥'*

फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन। रहहिं एक सँग गज पंचानन॥१॥
खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥२॥
कूजहिं खग मृग नाना बृंदा। अभय चरहिं बन करहिं अनंदा॥३॥
सीतल सुरभि पवन बह मंदा। गुंजत अलि लै चलि मकरंदा॥४॥

अर्थ—वनके वृक्ष सदैव (ऋतु-अनऋतु-कालगति छोड़कर) फूलते-फलते हैं। हाथी और सिंह (सहज वैरस्वभाव छोड़कर) एक साथ रहते हैं॥ १॥ स्वाभाविक वैर भुलाकर पक्षी और पशु सभीने एक-दूसरेपर प्रेम बढ़ाया॥ २॥ वनमें पक्षियोंके अनेक झुण्ड बोलते हैं, निर्भय चुगते हैं और आनन्द करते हैं। नाना पशुवृन्द निडर विचरते, चरते और आनन्द करते हैं॥ ३॥ शीतल और सुगन्धित वायु धीरे-धीरे चलती है (अर्थात् सर्वकालसुखदायी है)। भौंरे पुष्पोंका रस लेकर गुंजार करते चलते हैं॥ ४॥

नोट—१ *'फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन।'* यहाँ *'फूलहिं फरहिं'* कहकर तीनों प्रकारके वृक्षोंको कह दिया—*'एक सुमनप्रद एक सुमन फल एक फलइ केवल लागहीं।'* (लं० ८९ छन्द) जो फूलनेवाले हैं वे फूलते हैं, फूल-फल दोनों देनेवाले फूलते हैं और फलते हैं, फलप्रद फल देते हैं—यह तो साधारण बात है। विशेषता यह है कि वे अपने-अपने समयपर फूला-फला करते हैं पर रामराज्यमें 'सदा' बारहों मास फूलते-फलते हैं, दूसरे यह कि रामराज्यमें सभी फूल भी देते हैं और फल भी, ऐसा भी भाव ध्वनित होता है।

टिप्पणी—१ ☞रामराज्यका प्रभाव मनुष्योंपर वर्णन करके अब जड़-चैतन्य-मिश्रितपर वर्णन करते हैं, कि *'फूलहिं……।'* २ प्रथम लिख आये हैं कि 'काल, कर्म, स्वभाव, गुणकृत' दुःख किसीको नहीं होगा। अब इनका विभाग करते हैं। क्रमसे इन सबको अब कहते हैं—

काल	*फूलहिं फरहिं सदा तरु कानन*	कालगति त्यागकर सदा फूलते-फलते हैं।
कर्म	*कूजहिं*	
काल	*कूजहिं खगमृग नाना बृंदा।*	यहाँ कर्मकी गति बाधा नहीं करती।
स्वभाव	*रहहिं एक सँग गज पंचानन*	यह स्वभावका गुण छूट गया।

नोट—☞गुण—स्वभाव गुण युक्त होता है इससे गुणके लिये कोई पृथक् उदाहरण नहीं देते—दोहा—२१ और ४४ (४-६) में भी देखिये।

२ *'खग मृग……'* इति। गज पंचानन इन बड़े मृगोंको कहकर अब खग-मृग अर्थात् छोटे मृगोंका हाल कहते हैं। जैसे नरोंका हाल कह आये कि *'बैर न कर काहू सन कोई।'* और *'सब नर करहिं परसपर प्रीती',* वैसे ही खग-मृगका व्यवहार कहते हैं कि *'खग मृग सहज बयरु बिसराई। सबन्हि परस्पर प्रीति बढ़ाई॥'* स्वाभाविक प्रीति बढ़ाना यह है कि वियोग होते ही व्याकुल होते हैं। '**अहिंसाप्रतिष्ठायां वैरत्यागः**' इति योगसूत्रे। [खग-मृगादि स्वाभाविक वैरका त्याग तभी करते हैं जब कोई मनुष्य अपनेमें अहिंसाकी पूर्णतया प्राप्ति कर लेता है—'**अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः**।' इति पातञ्जलसूत्रे। इससे सूचित किया कि रामराज्यमें कायिक, वाचिक, मानसिक किसी भी प्रकारकी हिंसा कोई भी मनुष्य नहीं करता था। (प० प० प्र०)]

प० रा० व० श०—*'बिसराई'* का भाव कि छोड़ना कहनेसे यह जान पड़ता कि वैर है पर छोड़ दिया और *'बिसराई'* से जनाया कि वे यही भूल गये कि वैर कोई वस्तु है तब वैरका छोड़ना इत्यादि कैसे कहें।

टिप्पणी—३ वनका फूलना-फलना कहकर अब फूलों, फलों और वनके आश्रित जीवोंका वर्णन करते हैं। '**अभय**' और '**आनन्द**' का सम्बन्ध खग और मृग दोनोंके साथ है। फलोंके आश्रयसे खग आनन्दित रहते हैं और वनके आश्रयसे मृग (पशु) आनन्दित रहते हैं।—(अभय इससे कि विषमता न रह जानेसे पशु, पक्षी या मनुष्य कोई भी बाधक नहीं हैं)। यहाँ फलोंके आश्रितोंको कहा, आगे फूलोंके आश्रित

भ्रमरोंका वनमें वर्णन करते हैं।—*'गुंजत अलि लै चलि मकरंदा'* (ख) *'गुंजत'* पदसे भ्रमरोंकी शोभा कही, यथा—*'मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं।'* [नोट—*'सीतल सुरभि पवन बह मंदा'* वायुकी उत्कृष्टता इन्हीं तीन गुणोंसे युक्त होनेसे ही है, यथा—*'सीतल मंद सुगंध सुभाऊ। संतत बहइ मनोहर बाऊ॥'* (अ० ४०। ८) तीनों गुणोंसे युक्त होनेसे *'मनोहर'* कहा।]

मा० म०—स्वाभाविक वैरके त्यागका कारण यह है कि श्रीरामचन्द्रजीके प्रकाशसे सारा जगत् प्रकाशित है—*'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू'*, 'तस्य भासा सर्वमिदं विभातीति श्रुतिः।' जीव मायावश वैर और प्रीति करता है, परंतु रामराज्यमें जीव माया-व्यवहार-रहित हो गया।

लता बिटप माँगे मधु चवहीं। मन भावतो धेनु पय स्रवहीं॥ ५॥
ससि संपन्न सदा रह धरनी। त्रेता भइ कृतजुग कै करनी॥ ६॥
प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनि खानी। जगदातमा भूप जग जानी॥ ७॥
सरिता सकल बहहिं बर बारी। सीतल अमल स्वाद सुखकारी॥ ८॥

शब्दार्थ—मधु=शहद, मकरंदरस,। **चवना**=टपकाना।

अर्थ—बेल और वृक्ष माँगनेसे मधु टपका देते हैं। गौएँ (कामधेनुकी तरह) मनचाहा दूध दे देती हैं॥ ५॥ पृथिवी सदा खेतीसे भरी रहती है। त्रेतामें सत्ययुगकी करनी हुई (अर्थात् ऊपर जो कुछ वर्णन हुआ वह सब सत्ययुगमें होता रहा है) वही सब इस समय त्रेतामें होने लगा॥ ६॥ यह जानकर कि जगत्की आत्मा भगवान् जगत्के राजा हैं; पर्वतोंने अनेक प्रकारके मणियोंकी खानें प्रकट कर दीं॥ ७॥ सब नदियाँ श्रेष्ठ, शीतल, निर्मल, स्वादिष्ट और सुख देनेवाला जल बह रही हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'लता बिटप माँगे.........'* इति। लता और विटप जड़ हैं, ये चेतनका काम करते हैं कि माँगे देते हैं [बहुतायत ऐसी कि बिना उद्योग *'मधु चवहीं।'* (रा० प्र०)। मधु और दूध दोनों रस हैं, इस समतासे *'मधु चवना'* कहकर *'पय स्रवना'* और *'लता बिटप'* के साथ *'धेनु'* को कहा। (रा० शं० श०)। *'ससि संपन्न सदा रह'* से जनाया कि बिना बोये अन्न होता है। पृथिवी बारहों मास अन्न उपजाती है। एक बार लोग बोते और बीस बार काटते हैं। इधर काटा नहीं कि उधर अङ्कुर फिर निकल आया। पृथिवीका खेतीसे सम्पन्न होना ही उसकी शोभा है—*'ससि संपन्न सोह महि कैसी॥'* (४। १५। ५)]

टिप्पणी—२*'त्रेता भइ कृतजुग कै करनी'* इति। युगका धर्म धर्म वा अधर्म पाकर बदल जाता है। जैसे त्रेतामें रावणने कलियुग किया और श्रीरामजीने सत्ययुग कर दिया।

वि० त्रि०—भगवान् भीष्मपितामहने कहा कि **'कालस्य कारणं राजा राजा वा कालकारणम्। इति ते संशयो मा भूद् राजा कालस्य कारणम्॥'** कालका कारण राजा है, या राजाका कारण काल है, इस विषयमें संशय नहीं करना चाहिये। राजा ही कालका कारण है। रामावतार त्रेताके अन्तमें हुआ, पर श्रीरामचन्द्रके सिंहासनारूढ़ होते ही समयने पलटा खाया। त्रेतामें सब बातें सत्ययुग-सी हो गयीं। त्रेतामें तीन चरणोंसे धर्म रहता है, सो रामराज्यमें चारों चरणसे रहने लगा। यथा—*'चारिउ चरन धरम जग माहीं। पूरि रहा सपनेहु अघ नाहीं॥'* और जब पाप नहीं तब दुःख कहाँ। पापसे केवल पापीकी ही हानि नहीं होती, वातावरण दूषित हो जाता है, जिससे अनेक रोग उत्पन्न होते हैं।

टिप्पणी—३ *'प्रगटी गिरिन्ह बिबिध मनि खानी'* इति। (क) *'प्रगटी'* का भाव कि और राजाओंके राज्यमें पहाड़ोंमें मणियाँ गुप्त रहती हैं, पर रामराज्यमें प्रकट हो गयीं। प्रकट होनेका कारण दूसरे चरणमें देते हैं कि *'जगदातमा भूप.........।'* अर्थात् प्राकृत राजाओंसे दुराव हो सकता है, पर जगत्की आत्मासे दुराव नहीं हो सकता, यह समझकर स्वयं प्रकट हो गयीं। (ख) *'गिरिन्ह'* बहुवचन पद देकर सूचित किया कि सब पहाड़ोंमें मणियाँ प्रकट हो गयीं। [*'बिबिध मनि खानी'*—जैसे कि माणिक्य, नीलम, पोखराज, हीरा, पीरोजा आदि। प्रत्येक सभी वर्णके होते थे, एक-एक मणिमें सभी रंग झलकते थे और पृथक्-

पृथक् रंगके भी मणि थे तथा सब ग्रह और उपग्रहवाले मणियोंकी खानें प्रकट हुईं। (रा० प्र०)] (ग)—'*जगदातमा भूप जग जानी*' इति। जगत्‌का आत्मा जो गुप्त रहा वह भूप हुआ अर्थात् प्रकट होकर पृथ्वीपति हुआ। वैसा ही काम विविध प्रकारकी मणियोंने किया कि गुप्त थीं, पर उस भूपतिके बरतनेके लिये प्रकट हो गयीं। जब परमात्मा गुप्त (अव्यक्त) रहा तब मणियाँ गुप्त रहीं। जब वह देहधारी होकर प्रकट हुआ तब विविध प्रकारके मणि भी उसके धारण करनेके लिये प्रकट हुए। ['*जगदातमा भूप जिय जानी*' दीपदेहली न्यायसे आगे और पीछे दोनोंसे सम्बन्ध रखता है। जगत्-मात्र यह जानता है कि हमारी आत्माने ही भूपरूप धारण किया है, इसीसे सब जगत् समृद्धपूर्ण भावसे मत्त हो रहा है। यथा—'**स्वामिनं प्राप्तमालोक्य मत्तां वा सुतरामिह॥**' (भा० ९। ११। २६)]

टिप्पणी—४ '*सरिता सकल बहहिं बर बारी*·········' इति। (क) प्रथम पहाड़ोंका वर्णन करके तब नदियोंका वर्णन करते हैं क्योंकि नदीकी उत्पत्ति पहाड़से होती है। (ख) '*बर बारी*' कहकर दूसरे चरणमें जलकी श्रेष्ठता बताते हैं कि शीतल, निर्मल इत्यादि है। (ग) '*सीतल अमल स्वाद सुखकारी*' इति। नदियोंका जल सदा शीतल नहीं रहता; पर रामराज्यमें सब नदियोंका जल शीतल रहता है। नदियाँ करार काटकर चलती हैं इसीसे उनका जल मलिन हो जाता है; पर रामराज्यमें सदा निर्मल रहता है। सब नदियोंका जल स्वादिष्ट नहीं होता और बहुतोंका सुखकारी नहीं है, अर्थात् उनका जल पीनेसे ज्वरादि रोग उत्पन्न होते हैं; पर रामराज्यमें सभीका जल स्वादिष्ट और सुखद है।

नोट—१ जलमें ये तीनों गुण होनेसे ही उसकी श्रेष्ठता है, यथा—'*सीतल अमल मधुर जल जलज बिपुल बहु रंग॥*' (५६) (यह नीलगिरि भुशुण्डिवास स्थानके सरके सम्बन्धमें कहा है), '*भरेउ सुमानस सुथल थिराना। सुखद सीत रुचि चारु चिराना॥*' (१। ३६। ९) (यह मानसरोवरके सम्बन्धमें कहा है)। इनके भाव वहाँ भी देखियेगा।

२—इस दोहेभरका भाव भा० ९। १० में संक्षेपसे इस प्रकार वर्णित है—'**त्रेतायां वर्तमानायां कालः कृतसमोऽभवत्। रामे राजनि धर्मज्ञे सर्वभूतसुखावहे॥ वनानि नद्यो गिरयो वर्षाणि द्वीपसिन्धवः। सर्वे कामदुघा आसन्प्रजानां भरतर्षभ॥**' (५१-५३) अर्थात् सब प्राणियोंको सुख देनेवाले राजधर्ममें निपुण श्रीरामचन्द्रजीका राज होनेपर त्रेतायुगमें भी सत्ययुगके समान उत्तम समय हो गया। नदी, नद, समुद्र, पर्वत, वन, द्वीप और खण्ड सभी प्रजाको चितचाही वस्तु देकर प्रसन्न करने लगे। (भगवान् रामचन्द्रके राज्यमें आधि-व्याधि, बुढ़ापा, शोक, दुःख, भय, ग्लानि अथवा क्लान्ति किसी प्रकारका कष्ट नहीं रहा॥ ५४॥) इससे जनाया कि यह सब सत्ययुगका धर्म है।

रा० प्र०—'*सुखकारी*' का भाव कि इतना शीतल न होता था कि स्नान-पानमें दुःखद हो।—(सब अवस्थावालोंके लिये उनके स्वभाव, शरीर और अवस्था आदिके अनुकूल जल मिलता था। जल एक ही था; पर सबकी रुचिके अनुसार अनुकूल होता था अतः सबको सुखकारी होता था।—यह भी जनाया।)

नोट—☞ पृथ्वीके प्रधान विभाग आबादी, खेत, वन और पर्वत हैं। सो पुरीकी रुचिरता पहले ही कह आये, यहाँ वन आदि अन्य विभागोंकी शोभा कही।—यह पृथ्वीतत्त्वकी अनुकूलता दिखायी।

सागर निज मरजादा रहहीं। डारहिं रत्न तटन्हि नर लहहीं॥ ९॥
सरसिज संकुल सकल तड़ागा। अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा॥१०॥

अर्थ—समुद्र अपनी मर्यादा (हद) में रहते हैं (अर्थात् उपद्रव नहीं करते वरन् लोगोंका उपकार करते हैं कि) किनारेपर रत्न डाल देते हैं और मनुष्य उन्हें पाते हैं॥ ९॥ सब तालाब कमलोंसे परिपूर्ण हैं। दसों दिशाएँ पृथक्-पृथक् अपने-अपने भागमें अति प्रसन्न (निर्मल) हैं॥ १०॥

टिप्पणी—१ ☞ नदीका वर्णन करके अब नदियोंके पति समुद्रका वर्णन करते हैं। नदीके जलको '*सीतल अमल स्वाद सुखकारी*' कहा। समुद्रके जलको ये कोई विशेषण न दिये क्योंकि सब समुद्रोंका जल '*सीतल अमल स्वाद सुखकारी*' नहीं है। समुद्रकी शोभा रत्न डालनेकी है, वह शोभा यहाँ कही।

२ ☞ यहाँ जल और थल दोनोंसे मनुष्योंको रत्नकी प्राप्ति कही। *'डारहिं'* से सूचित किया कि अपने भीतरसे निकालकर लहरोंद्वारा तटपर डालते हैं। सब तालाबोंमें कमल नहीं होते पर रामराज्यमें सबमें कमल खिले रहते हैं।—(जलके मुख्य तीन आशय हैं—सरिता, सागर और सर। वह तीनों यहाँतक कहे। यह सब जल-तत्त्वकी अनुकूलता प्रकट करता है।)

रा० प्र० १—*'निज मरजादा रहहीं।'* भाव कि किसी नगरको जलमें डुबा लें, या और कोई परिवर्तन करें जो विघ्नरूप हो, ऐसा नहीं करते। [समुद्रके मर्यादा-त्यागसे कभी-कभी द्वीप-के-द्वीप उसके गर्भमें चले जाते हैं। पाँच हजार वर्ष हुए भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रके गोलोकयात्राके बाद ही द्वारका-द्वीप जिसमें छप्पन कोटि यादव रहते थे, समुद्रके गर्भमें चला गया, और भी ऐसी घटनाएँ हुई हैं, जिनका पता इतिहाससे लगता है। सरकारने दस सहस्र वर्षसे अधिक राज्य किया, पर ऐसी घटना पृथ्वीमण्डलभरमें नहीं हो पायी। इतना ही नहीं जिस भाँति पर्वतोंने मणिकी खानें प्रकट कीं उसी भाँति समुद्रोंने भी स्वगर्भस्थित रत्नोंको बाहर डाल दिया। भाव यह कि धर्मराज्य होनेसे प्रकृति भगवती दयामयी हो गयी। (वि० त्रि०)]

२—*'डारहिं' 'नर लहहीं'* का भाव कि समुद्रसे रत्न निकालनेमें बड़ा परिश्रम होता है। बड़े-बड़े गोताखोर युक्तिसे भीतर पैठकर मोती निकालते हैं, पर रामराज्यमें समुद्र स्वयं तरङ्गोंद्वारा बाहर डाल देते हैं, लोग अनायास पा जाते हैं। [पुनः *'डारहिं'* का भाव कि सागर नदीपति है, जलका राजा है। वह चक्रवर्ती महाराजको रत्नरूपमें कर देता है, रामजी उससे कर नहीं चाहते पर वह डाल ही देते हैं। (रा० शं० श०)]

३—*'अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।'* भाव कि दिशाके दसों विभाग अति प्रसन्न हैं, अर्थात् दुःखद दिग्दाहादि उत्पातोंसे वर्जित हैं।

दो०—बिधु महि पूर मयूषन्हि रबि तप जेतनहि काज।
माँगे बारिद देहिं जल रामचंद्र के राज॥ २३॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके राज्यमें चन्द्रमा अपनी किरणोंसे पृथ्वीको पूरित करते हैं (अर्थात् किरणें सर्वत्र फैलाकर अमृतसे कृषि आदिको पुष्ट करते हैं) और सूर्य उतना ही तप्त होते हैं जितनेका काम है (जितनेमें खेती पके उतना ही तपते हैं)। मेघ माँगनेसे जल देते हैं॥ २३॥

टिप्पणी—१ *'रामचंद्र के राज'* इति। चदि-धातुका अर्थ आह्लाद है। **'चंद्र'** शब्द **'चदि आह्लादने'** धातुसे निष्पन्न होता है। यहाँ *'रामचंद्र'* पद देनेका भाव कि उनके राज्यमें आह्लाद है। अर्थात् सब लोग आनन्दमें हैं, जैसा सुख इसमें है ऐसा किसी दूसरे राजाके राज्यमें होना असम्भव है। २ ☞ इस दोहेमें गोस्वामीजीने रामराज्यमें पाँचों तत्त्वोंका सदा अनुकूल रहना दिखाया है—

१ पृथ्वी—*'ससि सम्पन्न सदा रह धरनी'* ३ पावक—*'रबि तप जेतनहि काज'*
२ जल—*'सरिता सकल बहहिं बर बारी'* ४ पवन—*'सीतल सुरभि पवन बह मंदा'*
५ आकाश—*'अति प्रसन्न दस दिसा बिभागा।'*

नोट—जगत्‌के हितके लिये सूर्य, चन्द्र और जलद तीनों आवश्यक हैं—*'जग हित हेतु बिमल बिधु पूषन।'* (१। २०। ६) *'होइ जलद जग जीवन दाता।'* (१। ७। १२) इनके बिना फल-फूल खेती इत्यादि भी नहीं हो सकती—*'भूसुर ससि नवबृंद बलाहक।'* अतः वनादिकी शोभा कहकर इनको कहा।

* परिवारसहित प्रभुका आदर्श व्यवहार *

कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे। दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे॥ १॥
श्रुतिपथ पालक धर्मधुरंधर। गुनातीत अरु भोग पुरंदर॥ २॥
पति अनुकूल सदा रह सीता। सोभाखानि सुसील बिनीता॥ ३॥
जानति कृपासिंधु प्रभुताई। सेवति चरन कमल मन लाई॥ ४॥

अर्थ—प्रभु श्रीरामचन्द्रजीने अगणित अश्वमेध यज्ञ किये और ब्राह्मणोंको अनेक दान दिये॥ १॥ वे वेदमार्गके पालनेवाले धर्मरूपी धुराके धारण करनेवाले, सत्त्व, रज और तम तीनों गुणोंसे परे और भोगमें इन्द्र हैं॥ २॥ श्रीसीताजी सदैव पतिके अनुकूल रहती हैं। वे शोभाकी खानि, सुशीला और विनम्र हैं॥ ३॥ वे दयासागर श्रीरामजीकी प्रभुता जानती हैं और (प्रभुता समझकर) मन लगाकर चरणकमलोंकी सेवा करती हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे.........।'* इति। (क)—प्रथम लङ्काकी लड़ाईका वर्णन किया इसीसे अब यज्ञका वर्णन करते हैं, जैसे राजा लोग युद्ध करके फिर यज्ञ करते हैं (ख)—*'कोटि'* शब्द बहुतका वाचक है अर्थात् बहुत यज्ञ किये, यथा—*'कहि कहि कोटिक कपट कहानी। धीरज धरहु प्रबोधिसि रानी॥'* (२। २०। ३) मन्थरा रात्रिभरमें करोड़ों कहानियाँ न कह सकती थी। पुनः, यथा—*'कहि कहि कोटिक कथा प्रसंगा। राम बिलोकहिं गंग तरंगा॥'* (२। ८७। ५) इत्यादि। अथवा *'प्रभु'* शब्द देकर ग्रन्थकार स्वयं ही *'कोटिन्ह यज्ञ'* का समाधान कर देते हैं। श्रीरामजी प्रभु अर्थात् समर्थ हैं, वे करोड़ों यज्ञ कर सकते हैं क्योंकि ईश्वर सर्वशक्तिमान् है—'**कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थः प्रभुः।**' (ग) बिना ब्राह्मणोंको दान दिये यज्ञ पूरा नहीं होता। अतः यज्ञ करके दान देना कहा।

वि० त्रि०—अश्वमेध करनेमें केवल एक वर्ष तो घोड़ेके घूमनेमें लगता है, अतः एक अश्वमेध करनेमें कम-से-कम एक वर्षका काल अपेक्षित है, और सरकारने केवल ग्यारह सहस्र वर्षतक राज्य किया, अतः कोटिसंख्यक अश्वमेधका करना कैसे बनता है? यह शङ्का खड़ी हो जाती है। उत्तर यही है कि निरुक्तमें स्पष्ट कर दिया गया है कि शत, सहस्र, लक्ष शब्द बहुवचनवाची है। अतः इसका अर्थ इतना ही है कि बहुत-से अश्वमेध यज्ञ किये। परंतु यदि किसीको कोटि संख्यापर ही आग्रह हो, तो यह उत्तर है कि एक अश्वमेध करके यदि दक्षिणा अनेक गुणित करके दे दी जाय तो अनेक अश्वमेधका फल होता है, जिस भाँति महाराज युधिष्ठिरने एक अश्वमेध यज्ञ करके तिगुणी दक्षिणा देकर तीन अश्वमेधके फलोंको प्राप्त किया।

पाण्डेजीका मत यह भी है कि कोटिन्हसे भाँति-भाँतिके यज्ञ सूचित किये। परंतु यहाँ वाजिमेध स्पष्ट कहा है; उससे अन्य यज्ञका अर्थ नहीं लिया जा सकता।

मा० म०—*'कोटिन्ह बाजिमेध'* का भाव यह है कि—(क) श्रीरामचन्द्रजीने यज्ञ करनेके लिये राजाओंसे कर लेना छोड़ दिया, उसीसे सब राजा लोग यज्ञ करने लगे। इस प्रकार करोड़ों अश्वमेध पूरे हुए। अथवा, (ख)—कुछ कर छोड़ दिया और अगणित 'दिन पड़े' (?), अतएव अनेकों यज्ञ हो गये।

करु०—एक-एक अश्वमेधमें जितने पदार्थ खर्च होते हैं उनको कोटि विधानसे ब्राह्मणोंको दिया, इस प्रकार कोटि यज्ञ हुए। वा, सप्तद्वीपके राजाओंसे ११००० वर्ष यज्ञ कराये।

पं०—महाभारतादिने दस अश्वमेधोंका होना कहा है और कहीं-कहीं एकीस कहे गये हैं, यह तो कल्पान्तरभेदसे हो सकता है, पर दस सहस्रवर्षमें कोटि यज्ञ कैसे सम्भव हैं? इसका समाधान गोस्वामीजीने *'प्रभु'* पदसे कर दिया है।—(और भी कई समाधान लिखे हैं जो विशेष सङ्गत नहीं हैं)।

नोट—१ 'यज्ञमें देवपूजन होता है। श्रीरामचन्द्रजी स्वयं परब्रह्म हैं, तब इन्होंने किस देवताका पूजन किया?' कुछ लोगोंने यह शङ्का की है। इसका समाधान यह है कि प्रजाको एवं लोकमात्रको सदाचारकी शिक्षा देनेके लिये प्रभु स्वयं वेदपथका अनुसरण करते हैं। भगवान्‌ने कहा भी है कि जिस पथपर महत्पुरुष चलते हैं उसीपर सब चलते हैं, इसलिये हम जैसा करेंगे वैसा ही प्रजा करेगी। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है कि 'श्रेष्ठ पुरुष जैसा करते हैं, संसार भी वैसा ही आचरण करता है। यदि मैं सजग होकर कर्मोंको न करूँ तो वे भी कर्मोंको छोड़ देंगे जिससे वे नष्ट हो जायँगे। अतः ज्ञानी पुरुषोंको भी अनासक्त होकर केवल लोक-संग्रहार्थ कर्म करना ही चाहिये। यथा—'**यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।** (गीता ३। २१)........**यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः। मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।** (२३)..........**कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम्।**' (२५) श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि आपका अवतार केवल राक्षस-वधके

लिये नहीं होता, यथा—'**मर्त्यावतारस्त्विह मर्त्यशिक्षणं रक्षोवधायैव न केवलं विभोः।**' (५। १९। ५) '**यद्यदाचरति श्रेष्ठो लोकस्तदनुवर्तते।**' दूसरा समाधान श्रीशुकदेवजीकृत यह है कि सर्वदेवमय परमदेव भगवान्‌ने याग-यज्ञोंद्वारा आचार्यकी बतायी विधिसे अपना ही पूजन किया।—'**भगवानात्मनाऽऽत्मानं राम उत्तमकल्पकैः। सर्वदेवमयं देवमीज आचार्यवान्मखैः॥**' (भा० ९। ११। १) (श्रीशुकदेवजी कहते हैं कि महात्मा तथा आचार्य विभूतिमय श्रीरामचन्द्रजी उत्तम कल्पके यज्ञोंद्वारा सर्वदेवमय और प्रकाशमान निजस्वरूपका ही यजन करने लगे। तीसरे, भगवान्‌का माधुर्यमें गुरु, मुनि इत्यादिकी पूजा करना मानससे ही स्पष्ट है।

२—'*दान अनेक द्विजन्ह कहँ दीन्हे*' इति। महर्षियोंने अनेक प्रकारसे कहा है, किसीने कुछ किसीने कुछ। अतः ग्रन्थकारने कोई 'विधि' न कहकर '*दान अनेक*' पद दिया, जिसमें सब मतोंका समावेश है। श्रीमद्भागवत ९। ११ में कहा है कि यज्ञके अन्तमें 'होता' को पूर्व दिशा, 'ब्रह्मा' को दक्षिण दिशा, 'अध्वर्यु' को पश्चिम दिशा एवं 'उद्‌गाता' को उत्तर दिशा दक्षिणामें दे दी। इन दिशाओंके बीचमें जो पृथ्वी बची वह ब्राह्मणोंके योग्य समझ सब आचार्यको दे दी। आपके पास केवल वह रह गया जो शरीरपर वस्त्र-भूषण था। शेष सब दान दे दिया। ब्राह्मणोंने उनका वात्सल्य देख ब्रह्मण्यदेव रामजीको ही वह सब सौंप दी कि आप हमारी ओरसे प्रजापालन कीजिये (श्लोक २—७)।

टिप्पणी—२ '*श्रुतिपथ पालक धर्मधुरंधर।*.........' इति। श्रुतिपथपालक हैं अर्थात् वेदमार्गका पालन करते हैं, वेदोक्त नीतिपर चलते हैं। धर्मधुरन्धर हैं, अनेक धर्म करते हैं जैसे कि यज्ञ, विप्रोंको दान, कन्यादान, बन्ध, बावली, कुआँ, तालाब, देवस्थल, देवताओंकी स्थापना इत्यादि। '*गुनातीत*' का भाव कि जब निर्गुण हैं तब गुणोंसे भिन्न हैं, कुछ भोग नहीं करते। (पुनः भाव कि सत्त्व-रज-तम गुणोंसे परे हैं।) '*भोग पुरंदर*' अर्थात् जब सगुण हैं तब इन्द्रका-सा भोग करते हैं। इन्द्रने सौ यज्ञ किये, रामजीने '*कोटिन्ह*' किये।

३ '*पति अनुकूल सदा रह सीता*.........' इति। (क)—श्रीरामजीके गुण प्रथम बखानकर अब श्रीसीताजीके गुण कहते हैं। स्त्रीका प्रधान गुण पातिव्रत्य धर्म है, वही गुण प्रथम कहा। (ख) '*सोभाखानि सुसील बिनीता*' इति। भाव कि शोभाखानि होनेपर भी शोभाका अभिमान छोड़कर सुन्दर स्वभाव और विनम्रभावसे श्रीरामजीकी सेवा करती हैं। अथवा, श्रीजानकीजी पातिव्रत्य धर्मसे, शोभासे, सुन्दर शीलसे और विशेष नम्रतासे शोभित हैं।

मिलान कीजिये—'**प्रेम्णाऽनुवृत्त्या शीलेन प्रश्रयावनता सती। धिया ह्रिया च भावज्ञा भर्तुः सीताहरन्मनः॥**' (भा० ९। १०। ५६) अर्थात् भावको जाननेवाली श्रीसीतादेवी, विनयावनत भाव, प्रणय, अनुसरण, सुशीलता, भय एवं लज्जाद्वारा अपने स्वामीको सदैव प्रसन्न रखती थीं।

रा० शं०—'*अनुकूल*' पदसे यह भी दरसाया कि जो धर्मसम्बन्धी विशेषण रामजीमें हैं, वे सब इनमें भी हैं और जो शोभा-शीलादि इनमें हैं, वे रामजीमें भी हैं। यथा—'*बाम भाग सोभति अनुकूला।*'

टिप्पणी—'*जानति कृपासिंधु*.........' इति। (क) '*कृपासिंधु प्रभुताई*' का भाव कि वे दयासागर हैं, जनका अपराध नहीं देखते, तथापि सेवा करती हैं। (ख) चरणकमलका भाव कि लक्ष्मी कमलमें रहती हैं, श्रीजानकीजी पदकमलको सदा सेवती हैं।

जद्यपि गृह सेवक सेवकिनी। बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी॥५॥
निज कर गृह परिचरजा करई। रामचंद्र आएसु अनुसरई॥६॥
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥७॥

अर्थ—यद्यपि घरमें बहुत सेवक और सेवकिनियाँ हैं जो सेवा करनेकी विधिमें गुणवान् (निपुण) हैं, तथापि (अपने स्वामीकी सेवा जानकर) घरकी सब टहल वे अपने हाथों करती हैं और श्रीरामचन्द्रजीकी आज्ञाका प्रतिपालन करती हैं॥ ५-६॥ जिस प्रकारसे दयासागर सुख मानते हैं, श्रीजी वही करती हैं। वे सेवाकी विधि जानती हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'बिपुल सकल सेवा बिधि गुनी।'* सम्भव है कि लोग कहें कि सेवक-सेवकिनियाँ कम होंगी अथवा बहुत भी हों पर उनसे सेवा न बनती होगी इसीपर कहते हैं कि ऐसा नहीं है, सेवक भी बहुत हैं और वे सेवामें निपुण भी हैं। २—*'निज कर गृह परिचरजा करई।'''''''''* से सूचित किया कि गृहकार्य स्त्रीको अपने हाथ अवश्य करना चाहिये। इसे पतिकी सेवा समझकर करना चाहिये। [पाराशरस्मृतिमें ऐसा ही कहा है—'**दासीवादिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत्। ततोऽन्नसाधनं कृत्वा पतये विनिवेद्य तत्॥**' अर्थात् पतिके कहे कार्योंमें पत्नी सदैव दासीके समान रहे और अन्नका उत्तम स्वादिष्ट पाक बनाकर पतिको भोजनके लिये निवेदन करे। (वि० टी०)]

'कृपासिंधु सुख मानइ' का भाव कि यद्यपि श्रीसीताजी सब विधिसे सेवा करती हैं तथापि यह नहीं समझतीं कि श्रीरघुनाथजीको हमारी सेवासे सुख होता है, वरन् समझती हैं कि वे अपनी कृपासे मुझपर कृपा करके सुख मानते हैं। पुनः, दूसरा भाव कि श्रीजानकीजी सब विधिसे सेवा करती हैं और रामजी उनपर कृपालु रहते हैं। सेवा मार्जनादिका ही नाम नहीं है। स्वामीकी प्रसन्नता करना *'सेवा'* है—*'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा', 'जेहि बिधि प्रभु प्रसन्न मन होई। करुनासागर कीजिअ सोई॥'* (पं०) ☞ यहाँ उपदेश है कि घरमें चाहे जितना ऐश्वर्य सेवकादि क्यों न हों पर भगवान्‌का कैंकर्य अपने ही हाथ करना चाहिये। (करु०) [गौड़जी अर्थ करते हैं कि 'वही करना सीताजी सेवाकी विधि जानती हैं।' भाव कि सेवाकी विधि यही है कि वही करे।]

वै०—*'जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ।'''''''''* अर्थात् प्रभु तो उनको एक क्षण अलग होने नहीं देते, उनके संयोगमें ही सुख मानते हैं अतएव ऐसा जानकर वे प्रभुके संग ही अपनी भी सेवा सखियोंसे कराती हैं। आज्ञापालन सर्वस्व सेवा है। 'एकपत्नीव्रत अनुकूल नायक पतिव्रता स्वकीया नायका ऐसी उत्तमता रीतिसे परस्पर स्नेह' लोकोंमें और कहीं नहीं है, यथा—'**दाम्पत्यं नैव लोकेऽस्मिन् विद्यते नैव लभ्यते। अलौकिकं तु दाम्पत्यं विद्यते रामसीतयोः।**' (सत्योपाख्यान)

रा० प्र०—कृपासिन्धुका ऐश्वर्य-माधुर्य सब भाव जानती हैं। *'प्रीति अलौकिक राम सिया की। तौ को सीतासत्ता अतिरिक्त सेय सकै।'* कर्त्ता-भोक्ता-चेतन सीतारामजीके सिवा और कौन है? जो दास-दासी इन्द्रियादिरीतिसे चैतन्य हो इनकी प्रेरणासे सेवा करते हैं वह तो स्वामिनीहीकी की हुई है, स्थूल दृष्टिमें पृथक् भी देख पड़ती है, इस लीलाको रामजी ही जानते हैं,—*'सिय महिमा रघुनायक जानी।'*

नोट—यहाँ 'श्री' ऐश्वर्यद्योतक नाम दिया; क्योंकि इस दोहेमें दिखाते हैं कि इनका ऐश्वर्य कैसा है तब भी वे सेवा करती हैं।

कौसल्यादि सासु गृह माहीं। सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं॥८॥
उमा रमा ब्रह्मादि बंदिता। जगदंबा संततमनिंदिता॥९॥

दो०—जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत चितव न सोइ।
रामपदारबिंदु रति करति सुभावहि खोइ॥२४॥

अर्थ—श्रीसीताजी कौसल्यादि सब सासुओंकी सेवा घरमें करती हैं। उनको अभिमान (रूपादिका) और मद (राज्यादिकका) नहीं है॥८॥ उमा, रमा, ब्रह्माणी आदि (शक्तियों) तथा ब्रह्मा-विष्णु-महेशादि सभी देवताओंके द्वारा वन्दित हैं, एवं हे उमा! रमा (जानकी) जी ब्रह्मादि देवताओंसे वन्दित हैं, जगत्-माता (अर्थात् निरन्तर माननीय) हैं, सदैव अनिन्दित हैं॥९॥ जिन श्रीजानकीजीकी कृपाकटाक्षका चितवन (दृष्टि) देवता चाहते हैं पर जो उनकी ओर नहीं ताकतीं, वे ही अपना (इस बड़ाईका) स्वभाव छोड़कर श्रीरामजीके चरणकमलोंमें प्रेम करती हैं॥२४॥

टिप्पणी—१ *'सेवइ सबन्हि मान मद नाहीं।'* भाव कि समान भावसे सबकी सेवा यह समझकर करती हैं कि इन्हींसे मुझे श्रीरामजीकी प्राप्ति हुई। कौसल्यादि साधन हैं, श्रीरामजी सिद्ध फल हैं, इसीसे

गोसाईंजीने दोनोंकी सेवा वर्णन की है।—[*'मान मद नाहीं'* का भाव कि किंचित् ऐश्वर्यसे ये (मानमद) उत्पन्न हो जाते हैं, पर इनको इतनेपर भी नहीं है।]

२—*'संततमनिंदिता'* का भाव कि पुरवासियोंके निन्दा करनेसे वाल्मीकि-आश्रममें गयीं, यह हम क्यों कहें; क्योंकि ये निन्दाके योग्य नहीं हैं। इसीसे हमने यहाँ इसका वर्णन नहीं किया है।

गौड़जी—*'कथाप्रबंध बिचित्र बनाई'* के अनुसार यहाँ एक पक्षमें तो क्षीरसागर-निवासिनी वैकुण्ठ-विलासिनी रमाकी वन्दना है और दूसरे पक्षमें साकेतलोकविहारिणी परतमा सीता-रमाकी वन्दना है। पहले पक्षमें अर्थ लेनेसे अन्वय इस प्रकार होगा—'हे उमा! रमा ब्रह्मा आदिद्वारा वन्दिता जगदम्बा सन्तत अनिन्दिता हैं।' भाव कि भगवान् शङ्करजी उमासे कहते हैं कि श्रीसीताजी मेरे और ब्रह्मादिद्वारा वन्दिता और पूजिता हैं, जगत्‌की माता हैं और तीनों कालोंमें वे अनिन्दिता हैं, उनका कोई चरित ऐसा नहीं है जिसकी निन्दा की जा सके। यहाँ ध्वनिसे यह बताया है कि दस हजार वर्ष राज्य करनेके उपरान्त धोबीने जो निन्दा की थी वह झूठी निन्दा थी, सीताजी सर्वथा पवित्र और कलुषहीना थीं। *'संतत'* का अर्थ है 'निरन्तर' 'तीनों काल।' अर्थात् तीनों कालोंमें सीताजीपर किसी प्रकारका दोष नहीं लग सकता।

दूसरे पक्षमें अर्थ लेनेसे अन्वय यों होगा—'उमा, रमा, ब्रह्मादिद्वारा वन्दिता जगदम्बा सन्तत अनिन्दिता (हैं)। अर्थात् उमा, रमा, ब्रह्माणी आदिद्वारा वन्दिता और पूजिता हैं और जगदम्बा अर्थात् *'आदि सक्ति जेहि जग उपजाया'* हैं और सतत अनिन्दिता हैं अर्थात् प्रभुसे जिनका कभी वियोग नहीं हुआ है, न तो १४ वर्षके वनवासमें जब कि केवल मायाकृत प्रतिबिम्बका हरण हुआ था। और न राज्यारोहणके बाद कभी विछोह हुआ था। परतम और परतमाके अवतारमें धोबीके उपालम्भतककी कथा नहीं आयी है और सीताजीका वनवास भी नहीं हुआ है। जहाँ और अवतारोंमें एक अश्वमेधकी कथा है जिसके प्रसङ्गमें लवकुशसे युद्धका वर्णन है वहाँ इस परमावतारकी कथामें *'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हें'* अर्थात् कोड़ियों वा अनेक अश्वमेध प्रभुने किये। जिनमें किसी राजाकी यह हिम्मत न पड़ी कि घोड़ेको रोके और युद्धकी नौबत आवे। रावणने जब त्रैलोक्य-विजय कर रखा था तब एक रावणपर ही विजय पाना त्रैलोक्य-विजयसे अधिक है। इसके सिवा सबसे बड़ी विजय उनका धर्मराज्य है जिसके प्रभावसे बचे-खुचे अधर्मी राजा भी धर्मात्मा हो गये फिर वह व्यर्थका युद्ध छेड़नेकी मूर्खता क्यों करने लगे। यही बात है कि उत्तरकाण्डमें मानसकारने सीता वनवासादि की कथाएँ नहीं दी हैं। और अनिन्दिता शब्द कहकर यह सूचना दी कि और अवतारोंकी तरह इसमें जगदम्बाकी निन्दा नहीं हुई है, अतः वनवास भी नहीं हुआ है।

'ब्रह्म' भी प्रकृति और ब्रह्माणीका नाम है, इसलिये ब्रह्मका अर्थ है ब्रह्माणी आदि। यदि ब्रह्मादिका अर्थ ब्रह्मादिक देवता लें तो *'उमा रमा'* कहनेसे शिव और विष्णुका बोध होते हुए ब्रह्मादिसे शक्तिसहित ब्रह्मा आदिक देवताओंका बोध होता है।—[*'उमा रमा ब्रह्मादि'*=उमा रमा आदि ब्रह्मा आदि। आदिका अन्वय दोनोंमें है।]

नोट—१ *'ब्रह्मादि बंदिता जगदंबा'* आदि विशेषणोंके और भाव कोई यह कहते हैं—ब्रह्मादिवन्दिता हैं अर्थात् ब्रह्मादि देवताओंकी प्रार्थनासे अवतार लेकर लीलाका विस्तार किया है। अनिन्दितासे सूचित किया कि पुरवासियोंने निन्दा की, इसीसे वाल्मीकि-आश्रममें गयीं। जगदम्बा कहकर लवकुशके जन्म सूचित किये और देवताओंकी ओर न देखनेसे, (*'सुर चाहत चितव न सोइ'*) अयोध्याजीका त्याग सूचित किया। यथा—*'लोकप होहिं बिलोकत जासू॥'* (२। १४०। ८) *'लोकप होहिं बिलोकत तोरे॥'* (२। १०३। ६) *'रामपदारबिंद रति करति'* से सूचित किया कि त्याग करनेपर भी श्रीरामपदारविन्दमें प्रीति है, यथा—*'पियचरित सियचित चितेरी लिखत निज हित भीति॥'* (गी० ७। ३५) **'ध्यायन्तीं रामचरणं विवरप्रवेश:'** इति (भागवत)। ☞ये सब बातें अभिप्रायसे गुसाईंजी सूचित करते हैं; क्योंकि इसी स्थलमें लव-कुशके जन्मकी कथा कहनी चाहिये थी वह उन्होंने स्पष्ट न लिखी, केवल अभिप्रायसे उसे सूचित कर दिया है।

पं० रा० व० श०—*'जासु कृपाकटाच्छ सुर चाहत ……।'* ब्रह्मादिकने कितना तप किया पर वे भगवान्‌में अनुरक्त हैं, इनकी ओर भी नहीं देखतीं। यथा—**'ब्रह्मादयो बहुतिथं यदपाङ्गमोक्षकामास्तपः समचरन्**

भगवत्प्रपन्नाः। सा श्रीः स्ववासमरविन्दवनं विहाय यत्पादसौभगमलं भजतेऽनुरक्ता॥' (भा० १। १६। ३२) (पृथ्वीदेवीने धर्मसे ये वचन कहे हैं—जिनकी कृपाकटाक्ष प्राप्त करनेके लिये ब्रह्मादिक देवताओंने भगवत्परायण होकर बहुत दिनोंतक तपस्या की थी वे 'श्री' जी भी अपने निवास-स्थान कमलवनको छोड़कर अति प्रेमपूर्वक जिनके चरणलावण्यका सेवन करती हैं।)

वि० त्रि०—देवतालोग कृपाकटाक्ष चाहा करते हैं, यदि भगवती आँख उठाकर देख दें तो लोकपाल हो जायँ, पर वे देखतीतक नहीं। उनकी दृष्टि तो सदा सरकारपर रहती है, यथा—'**सीतां पार्श्वगतां सरोरुहकरो विद्युन्निभां राघवं पश्यन्तीम्**' इत्यादि। भगवती साक्षात् श्री हैं, कहीं स्थिर नहीं रहतीं, पर अपने स्वभावको छोड़कर सरकारके चरणोंमें सदा स्थिर रहती हैं, यथा—'***यद्यपि परम चपल श्री संतत थिर न रहति कतहूँ। हरि पदपंकज पाइ अचल भइ करम बचन मनहूँ॥***'

नोट—२ '***सुभावहिं खोइ***' अर्थात् अपने इस ऐश्वर्यको छिपाकर। जैसे प्रभु अपना ऐश्वर्य छिपाये माधुर्यमें राजकुमार बने हैं, वैसे ही ये राजकुमारी बनीं पत्नीधर्मसे प्रभुकी सेवामें तत्पर रहती हैं। (वै०) पुनः भाव कि बड़ाईका स्वभाव दुस्त्यज है, पर बड़ाई रामभक्तिकी बाधक है, यथा—'***सुख संपति परिवार बड़ाई।*********ये सब रामभगति के बाधक।***' अतः स्वभावको खोकर प्रीति करती हैं। (पं० रा० कु०)

नोट—☞ ऐसी ऐश्वर्यवती होकर भी पतिके चरणोंमें प्रेम है; कैसा कुछ कि स्वयं पतिकी सेवामें तत्पर रहती हैं। इस तरह जगज्जननी सर्वलोकेश्वरीजी अपने आदर्श आचरणसे जगत्-मात्रको और विशेषतः राजमहिलाओं, रईसोंकी स्त्रियोंको शिक्षा दे रही हैं। देखो, पतिव्रतधर्मके पालनसे श्रीअनसूयाजी, श्रीसावित्रीजी, जलन्धरकी स्त्री वृन्दाजी इत्यादि सती स्त्रियोंका जगत्‌में कैसा मान है। श्रीसतीजीने तो अपने पतिका अपमान करनेवाले पिता दक्षप्रजापतिकी क्या दुर्गति करायी, सब जानते ही हैं और पतिव्रत यहाँतक निबाहा कि उससे उत्पन्न शरीरको भस्मकर नया शरीर धारण किया।

मा० हं०—स्त्रीशिक्षणके विषयमें '***नारि धर्म पतिदेव न दूजा***' यह गोसाईंजीका संग्रहवाक्य है। उनके सब प्रसङ्गोपात्त वर्णनोंको उसीका भाष्य समझना चाहिये। अनेक स्थानोंके वर्णनोंका मथितार्थ यहाँ दिया जाता है—'घरमें स्त्रीका व्यवहार स्वामिनीके भावनासे कदापि न होना चाहिये। उसे सास, ससुर, गुरुजनकी रुचिको सदैव सम्मानपूर्वक सँभालते हुए उनकी आज्ञाके अनुसार बर्ताव करना चाहिये।

राज-ऐश्वर्यमें रहनेपर भी वह ऐश्वर्य अपने पतिका (ईश्वर या गुरुका) ही समझकर, स्त्रीको सदैव सेवाधर्मको ही स्वीकृत करना चाहिये। घरमें कितने ही प्रेमी, उत्साही और बुद्धिमान् नौकर-चाकर क्यों न हों परन्तु पति-सेवाके लिये उसे केवल उन्हींपर निर्भर न रहना चाहिये। बल्कि हलका काम करनेके लिये भी वह सदैव तत्पर रहे, अपनी बहुओंको उसे '***नयनपलककी नाईं***' प्रेमसे सँभालना चाहिये। देव-ब्राह्मण, गुरु-सन्त, अतिथि-अभ्यागत और दीन-दरिद्रीका सत्कार पतिके अनुमोदनसे, स्त्रीको स्वयं अपना गृहस्त्रियोंद्वारा अधिकारानुसार करते रहना चाहिये।—(अयोध्या और अरण्यकाण्डोंमें भी देखो)।

सेवहिं सानुकूल सब भाई। रामचरन रति अति अधिकाई॥ १॥
प्रभुमुखकमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं॥ २॥
राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती। नाना भाँति सिखावहिं नीती॥ ३॥

अर्थ—सब भाई श्रीरामजीके अनुकूल रहकर उनकी सेवा करते हैं। सबका श्रीरामजीके चरणोंमें अत्यन्त अधिक प्रेम है॥ १॥ वे प्रभुका मुखारविन्द देखते रहते हैं कि दयालु श्रीरामजी हमें कुछ (सेवा करनेको कृपा करके) कहें॥ २॥ श्रीरामचन्द्रजी भाइयोंपर प्रेम करते हैं और अनेक प्रकारसे नीति सिखाते हैं॥ ३॥

पं० रा० व० श०—'***सेवहिं सानुकूल***' और '***रति अति अधिकाई***' से जनाया कि भयसे नहीं, राजा हैं इससे नहीं, वरन् अति अनुराग प्रभुपदमें है इससे सेवा करते हैं। यह कहकर फिर बताते हैं कि कैसी सेवा करते हैं—'***प्रभुमुखकमल बिलोकत रहहीं*********' इत्यादि। रुख देखते हैं कि सेवा मिले। इससे

यह भी जनाया कि कितनी ही सेवा करें उससे तृप्ति नहीं होती, श्रद्धा बनी ही रहती है कि और मिले। *'अति अधिकाई'* से जनाया कि दिनोंदिन बढ़ती ही जाती है, इसीसे श्रद्धा भी बढ़ती जाती है।

नोट—१ *'कबहुँ कृपाल हमहिं कछु कहहीं'* यह अभिलाषा सदा रहती है। क्यों? सेवा मिलने और अपनेसे सेवा होनेसे अपना जन्म सफल होगा, शरीर धारण करनेका यही फल है, यथा—*'देह धरे कर यह फल भाई। भजिय राम सब काम बिहाई॥'* (४। २३। ६) यह शिक्षा सुग्रीवने वानर-सुभटोंको दी थी जब सीता-शोधके लिये भेज रहे थे। सेवा पानेसे अपनेको कृतार्थ मानते हैं, यही सेवकका धर्म है—

श्रीहनुमान्‌जी—*'हनुमत जनम सुफल करि माना। चलेउ हृदय धरि कृपानिधाना॥'* (४। २३। १२)

श्रीअङ्गदजी—*'स्वयं सिद्ध सब काज नाथ मोहि आदर दिएउ। अस बिचारि जुबराज·······॥'* (६। १७)

श्रीभरतजी—*'अग्या सम न सुसाहिब सेवा। सो प्रसाद जन पावइ देवा॥'* (२। ३०१)

२ *'जेठ स्वामि सेवक लघु भाई। यह दिनकर कुल रीति सुहाई॥'* (२। १५। ३) इस भावसे तथा प्रभुता जानते हैं इससे सब भाई श्रीरामजीकी सेवा और उनके चरणोंमें अति प्रेम करते हैं। दूसरी ओर श्रीरामजीका भाव यह है कि *'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'* (२। १०। ७) ये हमारे बराबरके हैं, ऐसा ही समझते हैं। छोटे भाई हैं अतः उनपर प्रेम करते हैं और नीति सिखाते हैं—*'बड़े सनेह लघुन्ह पर करहीं।'* नीति सिखाना भी प्रेमका द्योतक है।

☞ जो-जो बातें श्रीसीताजीमें दिखायीं वैसी ही भाइयोंमें दिखाते हैं। दोनों सेवाके लिये रामरुख देखते हैं और श्रीरामजीके अनुकूल रहते हैं। दोनोंकी सेवासे श्रीरामजी उनपर कृपा और प्रेम करते हैं। श्रीसीताजी जगदम्बा, उमा-रमा-ब्रह्मादिवन्दिता होकर भी चरणोंमें प्रीति करती हैं। भाई बराबरवाले होकर भी, प्रभु मानकर सेवा और प्रेम करते हैं।

श्रीजानकीजी		भ्राता
जेहि बिधि कृपासिंधु सुख मानइ। सोइ कर श्री सेवा बिधि जानइ॥	१	*प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं। कबहुँ कृपालु हमहिं कछु कहहीं॥*
पति अनुकूल सदा रह सीता	२	*सेवहिं सानुकूल सब भाई*
कृपासिंधु सुख मानइ	३	*राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती*
जानति कृपासिंधु प्रभुताई	४	*प्रभु मुख कमल बिलोकत रहहीं*
जगदंबा·········जासु कृपाकटाच्छ·········	५	*सेवहिं सानुकूल सब भाई*
रामपदारबिंद रति करति·········	६	*रामचरन रति अति अधिकाई*

टिप्पणी—*'राम करहिं भ्रातन्ह पर प्रीती·········'* इति। (क) भाइयोंकी प्रीति श्रीरामजीमें कहकर अब भाइयोंपर श्रीरामजीका प्रेम कहते हैं अर्थात् स्वामी और सेवकका परस्पर प्रेम यहाँ दिखाते हैं। (ख) *'प्रीति'* कहनेका भाव कि तीनों भाई श्रीरामजीको अपना प्रभु (स्वामी) मानते हैं, पर श्रीरामजी उनको अपना भाई मानते हैं। प्रीति बराबरवालेसे की जाती है, यथा—*'प्रीति बिरोध समान सन करिअ नीति असि आहि।'* (६। २३) अतः प्रीति करना कहकर बराबरका मानना जनाया। (ग) श्रीरामजी प्रथम वसिष्ठजीसे वेद-पुराण सुनकर समझाया करते थे, यथा—*'बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥'* (१। २०५) जबसे राज्यसिंहासनासीन हुए तबसे नीति सिखाते हैं।

वै०—१ बन्धु-भावसे प्रीति बढ़ाकर, सखा-भावसे सानुकूल रहकर, दासभावसे सेवा करते हैं। और २—रघुनाथजी उनपर सखा-सेवकभाव-रहित भाई ही जानकर प्रीति करते हैं, इसीसे सेवा-धर्म नहीं सिखाते वरन् राज्यमें साझेदार मानकर राजनीति सिखाते हैं। यह प्रसङ्ग नीति-शिक्षाका अग्निपुराण अध्याय २३६ से २४१ तकमें विस्तारसे है।

हरषित रहहिं नगर के लोगा। करहिं सकल सुरदुर्लभ भोगा॥४॥
अहनिसि बिधिहि मनावत रहहीं। श्रीरघुबीर चरन रति चहहीं॥५॥

दुइ सुत सुंदर सीता जाए। लवकुस बेद पुरानन्ह गाए॥ ६॥
दोउ बिजई बिनई गुनमंदिर। हरिप्रतिबिंब मनहुँ अति सुंदर॥ ७॥
दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे। भए रूप गुन सील घनेरे॥ ८॥

अर्थ—पुरवासी प्रसन्न रहते हैं और देवताओंको भी कठिनतासे प्राप्त होनेवाले भोग भोगते हैं*॥ ४॥ श्रीरघुवीरजीके चरणोंमें प्रेम चाहते हैं इसके लिये वे दिन-रात ब्रह्माजीको मनाते रहते हैं (कि हम भोगासक्त न हों और हमारा प्रेम श्रीरामजीमें बना रहे)। श्रीसीताजीके दो सुन्दर पुत्र लव और कुश हुए जिनकी कथा वेदपुराणोंने विस्तारसे वर्णन की है॥ ५-६॥ दोनों विजयी, विनयी (नम्रता एवं नीतियुक्त) और गुण-धाम हैं, दोनों अत्यन्त सुन्दर हैं मानो भगवान्‌की छाया (प्रतिमूर्ति) ही हैं॥ ७॥ दो-दो पुत्र सब भाइयोंके हुए जो बड़े सुन्दर, गुणवान् और सुशील थे॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'नगर के लोगा।'* जगत्‌के स्त्री-पुरुषोंका सुख वर्णन कर आये—[*'रामराज बैठे त्रैलोका।'* (२०। ७) से *'दंड जतिन्ह कर·········।'* (२२) तक]—अब अयोध्यावासियोंका सुख वर्णन करते हैं। इसीसे यहाँ *'नगर के लोगा'* पद दिया। (ख) *'सुरदुर्लभ भोगा'* इति। सुरभोग इन्द्रलोकमें है और सुरदुर्लभभोग ब्रह्मादिलोकोंमें हैं। वे भोग अयोध्यावासियोंको यहीं प्राप्त हैं।—[गीतावलीमें भी कहा है कि *'नाकेस दुरलभ भोग लोग करहिं।'* (गी० उ० १९)† भोग करनेसे विषयवश होनेकी सम्भावना है अतः आगे कहते हैं कि वे अहर्निश विधातासे श्रीरामजीके चरण-पङ्कजमें प्रेमकी प्रार्थना करते रहते हैं; विषयासक्त होते तो ऐसा कदापि न करते। अथवा सुरदुर्लभसे अलौकिक अप्राकृत त्रिपाद विभूतिका भोग सूचित किया। पुनः *'सुरदुर्लभ सुख करि जग माहीं।'* (१५। ४) भी देखिये। वहाँ सत्सङ्गको सुरदुर्लभ सुख कहा है। करुणासिन्धुजी कहते हैं कि देवताका भोग त्रैगुण्यजनित है और अवधवासियोंको परविभूति परमदिव्य, गुणातीत परमानन्द भोग प्राप्त है जो उन (देवों) को प्राप्त नहीं।]

'सीता जाए' का भाव। जो लड़के कन्याके मायकेमें पैदा होते हैं, वे कन्याके नामसे कहे जाते हैं, यह लोकरीति है। श्रीजानकीजी वाल्मीकिजीको पिता और वाल्मीकिजी इनको अपनी कन्या समझते हैं; इसीसे श्रीजानकीजीके नामसे लव-कुशकी प्रसिद्धि कहते हैं। इसी प्रकार जो श्वसुरके यहाँ पैदा होते हैं, वे पिताके नामसे कहे जाते हैं। इसीसे आगे और भाइयोंकी सन्तानोंके विषयमें कहते हैं कि *'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे।'*

नोट—१ इसपर यह शङ्का की जाती है कि 'यदि श्रीलव-कुशजीका जन्म वाल्मीकिजीके आश्रममें होनेसे माताकी प्रधानता मानी जाय तो *'कौसल्या हितकारी'* और *'कैकयसुता सुमित्रा दोऊ। सुंदर सुत जनमत भइँ ओऊ॥'* से चारों राजकुमारोंका जन्म अवधसे अन्यत्र कहाँ माना जाना चाहिये?' इसपर वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि पुराणों और इतिहासोंसे प्राचीन कालकी प्रथासे विदित होता है कि जिनके माता-पिता दोनों विख्यात होते थे वे दोनोंके नामसे अवगत किये जाते थे, जिनके माता-पिता विख्यात नहीं होते थे वे अपने ही नामसे सम्मानित होते थे और जिनके दोमेंसे एक ही (माता अथवा पिता) विख्यात होते थे वे उसीसे विश्रुत होते थे, दूसरा पक्ष गौण होता था। जैसे अत्रि-अनसूया, वसिष्ठ-अरुन्धती, दशरथ-कौसल्या, कैकेयी-सुमित्रा, वसुदेव-देवकी, नन्द-यशोदा आदि दम्पतीकी समान ख्याति होनेसे ही

---

* 'रामे शासति साकेतपुर्यां सर्वाः प्रजास्तदा। विदधुर्भोगपूगांस्ता दुर्लभांस्त्रिदशैरपि॥' (आ० रा० राज्य० २५। ५३)
'तस्यामेवास्य यामिन्यामन्तर्वत्नी प्रजावती। सुतावसूतसम्पन्नौ कोशदण्डाविवक्षितिः।' (रघुवंश १५। १३)

† 'कोसलपुरी सोहावनि सरि सरजू के तीर। भूपावली मुकुटमनि नृपति जहाँ रघुबीर॥
पुरनरनारि चतुर अति धरमनिपुन रत नीति। सहज सुभाय सकल उर श्रीरघुबरपदप्रीति॥'
छंद—श्रीरामपदजलजात सबके प्रीति अबिरल पावनी। जो चहत सुकसनकादि संभु बिरंचि मुनि मन भावनी।
सबही के सुन्दर मंदिराजिर राउ रंक न लखि परै। नाकेस दुर्लभ भोग लोग करहिं न मन बिषयनि हरै॥' (गी० ७। १९)

उनके अङ्गजोंका नाम कहीं मातृप्रधान और कहीं पितृप्रधान कहा गया है। दशरथ, वाल्मीकि, नहुष, ययाति आदिके माता-पिता दोनों ही अधिक ख्यात नहीं थे, इसलिये इनके माता-पिताकी चर्चा, परम्परा बतानेके अतिरिक्त नहीं-सरीखी है। इक्ष्वाकु, सगर, ककुत्स्थ, रघु, यदु आदि अधिक लोकविश्रुत थे। इनकी पत्नियाँ ख्यात नहीं थीं अत: इनके वंशज-अङ्गज ऐक्ष्वाकु, सागर, काकुत्स्थ, राघव आदि भी कहाते थे, पर राजर्षि अलर्ककी विदुषी माता मदालसा ही अधिक ख्यात थीं इसलिये वे उन्हींके नामसे ख्यात थे। अस्तु, महर्षि वाल्मीकिके आदिकाव्यमें श्रीसीताचरित्र ही प्रधान है, अन्य (रामादिका) चरित्र गौण है। यथा—'**कृत्स्नं रामायणं काव्यं सीतायाश्चरितं महत्।**' उपासकों, रहस्यविदोंकी दृष्टिमें सदैवसे श्रीजूकी ही प्रधानता रहती है, कारण कि ब्रह्मके उपायपूरकत्वगुणका प्राकट्य श्रीजूके रूपमें ही अधिकतर हुआ करता है—'**विशेषज्ञमये भर्तुरभिगम्यत्वसिद्धये। समस्तमङ्गलावाप्त्यै प्रथमं श्रीरिहोदिता॥**' इसीसे भावुकोंने अनुभव करके जाना है कि—'**प्रणिपातप्रसन्ना हि मैथिली जनकात्मजा।**' यही नहीं उनके लीला-चरित्रोंमेंसे अनेक उदाहरण भी उपस्थित किये गये हैं—'**मातर्मैथिलि राक्षसीस्त्वयि तदैवाऽऽर्द्राऽपराधास्त्वया रक्षन्त्या पवनात्मजाल्लघुतरा रामस्य गोष्ठीकृता। काकं तं च विभीषणं शरणमित्युक्तिक्षमौ रक्षतः सा नः सान्द्रमहागसं सुखयतु क्षान्तिस्तवाऽऽकस्मिकी॥**'

वैष्णवागम आदि शास्त्रोंकी आज्ञासे ही भावुकोंकी दृष्टिमें श्रीजूका स्थान भगवान्‌से सदैव विशिष्ट रहा करता है और श्रीराम तथा सीताजीकी समाख्या होते हुए भी श्रीसीताजीकी ही प्रधानता श्रीरामायण महाकाव्यमें हैं। इसीसे पुत्रोत्पत्तिमें श्रीसीताजीका ही नाम लिया गया है—'*दुइ सुत सुंदर सीता जाए।*'

श्रीमाण्डवी, श्रीउर्मिला तथा श्रीश्रुतिकीर्तिजीकी अधिक ख्याति न तो तब थी और न अब ही है। श्रीभरत, श्रीलक्ष्मण और श्रीशत्रुघ्नजीकी ख्याति तब भी थी और आज भी है तथा यही तीन श्रीरामजीके भाई हैं। इसीलिये श्रीभरतादिकी पत्नियोंके नाम न लेकर कहा गया कि—'*दुइ दुइ सुत सब भाइन्ह केरे।*'

वे० भू० का मत है कि 'श्रीसीतात्यागादिकी कथा अप्रामाणिक है। यह वाल्मीकीय तथा पुराणोंमें महाकवि गुणाढ्यके अर्धमौलिक उपन्यास 'बृहत्कथा' की कल्पनाके आधारपर लोगोंने बढ़ायी है।' जो हो, भगवान् जानें। पर यह कथा पद्मपुराणादिमें भी है। यह बात दूसरी है कि कल्पभेदसे चरित्रोंमें विभिन्नता कहीं-कहीं अवश्य है। किसी-किसी कल्पमें त्यागके पश्चात् पुनर्मिलन—पुन: संयोग हुआ है।

नोट—२ कुश ज्येष्ठ पुत्र हैं। इनका नाम लवसे पीछे दिया, जैसे नामकरण-प्रसङ्गमें लक्ष्मणजीको शत्रुघ्नजीसे पीछे कहा। इससे जान पड़ता है कि यमजके नामकथनकी यही रीति है। अथवा सुख-मुखोच्चारणार्थ लवको प्रथम कहा।—वा० १९७ (८)—१९७ देखिये। (खर्रा) तापिनी आदि वेदोंमें, ब्रह्माण्डपद्मादि पुराणोंमें और यामलमें गर्भाधान-क्रमसे जो पीछे प्रकट हो वह जेठा माना जाता है। (रा० प्र०)

नोट—३ '*दुइ सुत सुंदर सीता जाए*' यहाँ श्रीसीताजीका सम्बन्ध देकर मानसकारने गुप्तरीतिसे सीता-त्यागकी कथा, जो वाल्मीकि आदिमें लिखी है, सूचित कर दी है। इस तरह इस पदमें चारों कल्पोंके रामावतारोंकी कथा भी आ गयी और शुद्ध मनु-शतरूपा दशरथ-कौशल्या और प्रतापभानु-रावणवाले कल्पकी कथा तो स्पष्ट ही है। सीता-त्यागकी कथा खोलकर न कह सकनेके कई कारण हो सकते हैं—एक तो यही कि शम्भुकृत रामचरितमानसमें त्यागका वर्णन नहीं होगा और गोस्वामीजीने कहा है कि '***भाषाबद्ध करब मैं सोई***' अत: इसमें भी न कहा गया। दूसरे, परात्पर परब्रह्मका अवतार जिस कल्पमें हुआ उसमें यह त्याग हुआ ही न हो। यहाँ तो सुरसरिपूजन और ऋषियोंके दर्शन लङ्कासे लौटते समय ही हो चुके, जिस अभिलाषाकी पूर्तिके बहाने श्रीसीताजी अन्य कल्पोंमें वाल्मीकिजीके यहाँतक भेजी गयीं। यदि त्याग यहाँ लिखते तो उस कल्पकी कथा इसमें न रह जाती और इसमें तो चारों कल्पोंकी कथाएँ दिखलानी हैं। तीसरे ग्रन्थकार श्रीसीता-रामजीका नित्य संयोग मानते हैं, दोनोंका वियोग उनको कब सहन हो सकता था। चौथे ग्रन्थकी समाप्ति शोकके प्रसङ्गपर करना रुचिकर नहीं था।

प्र० स्वामीजी लिखते हैं कि मा० पी० प्र० सं० के इन भावोंसे मैं पूर्णतया सहमत हूँ। सीता-परित्यागादि दु:खद घटनाएँ यहाँ कितने अल्पशब्दोंमें और कितनी खूबी तथा कोमलतासे सूचित की गयीं,

यह देखते ही बनता है। महाप्रस्थान तो इससे भी अधिक गूढ़रीत्या सूचित किया गया है। इस प्रकारका भावप्रदर्शन कला-कौशल अन्यत्र मिलना असम्भव है।

☞ सीता-त्यागके सम्बन्धमें कुछ लोगोंने, श्रीरामचन्द्रजीको अच्छी तरह न समझनेके कारण उनपर लाञ्छन लगाया है। इस विषयमें बालकाण्डके 'मानसपीयूष' नामक तिलकमें अरण्यकाण्डमें कुछ लिखा जा चुका है। बुद्धिमान् शङ्का करनेवाले सज्जनोंने तो अपना सन्तोष उतनेहीपर कर लिया है तथापि यहाँ त्यागका एक और दूसरा रहस्य आपको सुनाया जाता है, जिससे श्रीरामजीमें हमारा अधिक प्रेम होगा।—श्रीदशरथजी महाराजने जब शरीर छोड़ा, उस समय उनकी आयु लगभग एक हजार वर्षकी शेष थी, पर उन्होंने रामवियोगमें राम-प्रेमके आगे इस आयुका निरादर किया, इसको तुच्छ जानकर प्राण भी रामजीके साथ पयान कर दिये—*'यह तन राखि करब मैं काहा। जेहि न प्रेमपन मोर निबाहा॥'* श्रीरामराज्य होनेपर दस हजार वर्ष आयुपर्यन्त, जो सतयुगकी पूर्ण आयु थी, रामजीने अपना राज्य किया। इसके बाद सोचकर कि पिताने हमारे वियोगमें अपनी पूर्ण आयुको भोग न किया था, हम उनकी ओरसे उनकी आयु पूरी कर दें। पर एक अड़चन इसमें धर्मकी सूक्ष्मताके कारण उनको पड़ी कि पिताकी आयु भोग करनेके समय तो सीताजीका ग्रहण धर्मविरुद्ध होगा, उस समय तो वस्तुतः दशरथजीका राज्य है, हम दशरथजीकी जगह हैं तब सीताजी तो दशरथजीकी पुत्रवधू होनेसे साथ कैसे रह सकती थीं। अहा! कैसा सूक्ष्म धर्मका निर्वाह है। प्रमाण यथा—*'संकट सुकृतको सोचत जानि जिय रघुराउ। सहस द्वादस पंचसत मैं कछुक है अब आउ॥ भोग पुनि पिता आयुको सो किए बनै बनाउ। परिहरे बिनु जानकी नहिं और अनघ उपाउ॥ पालिबे असि धार ब्रत प्रिय प्रेम पाल सुभाउ। होइ हित केहि भाँति नित सुबिचारि नहिं चित चाउ॥ निपट असमंजसहु बिलसत सुख मनोहर ताउ। परम धीर धुरीन हृदय कि हरष बिसमय काउ॥ अनुज सेवक सचिव हैं सब सुमति साधु सखाउ। जान कोउ न जानकी बिनु अगम अलख लखाउ। राम जोगवत सीय मन पिय मनहिं प्रान पियाउ॥ परम पावन प्रेम परमित समुझि तुलसी गाउ॥'* (गी० ७। २५)

तीसरे, लोकशिक्षा और लोकसंग्रहके विचारसे भी त्याग आवश्यक था। भा० ९। ११ में शुकदेवजी परीक्षित्‌जीसे कहते हैं कि त्याग न करनेसे अबाध्य, अज्ञानी, ओछे, नीच लोगोंके अपवादसे उनके परमोज्ज्वल कीर्तिचन्द्रमें कलङ्क आ जानेका पूर्ण सन्देह एवं भय था। जैसे धोबीने कहा कि क्या मैं राम हूँ इत्यादि, वैसे ही अन्य भी कहते। श्रीसीताजीकी कीर्तिको भी अकलङ्कित सिद्ध कर दिखानेके लिये यह त्याग परमावश्यक था।

पं० श्रीकान्तशरणजीका मत है कि 'यह यात्रा अपने स्वामीके चरित्रको प्रकाशित करके भविष्यमें जीवोंके उद्धारके लिये हुई। उन्होंने श्रीरामजीसे स्वेच्छासे ही वन जानेका वर माँगा और उसी समय रजकद्वारा निन्दाकी बात भी श्रीरामजीको सुनायी दी। यह दूसरा हेतु इसलिये रचा गया कि इसीके शमन करनेके लिये महर्षि वाल्मीकिद्वारा रामायण रची जाय। उनका मत है कि रामायण सीता-त्यागके पश्चात् रचा गया। उसकी पूर्तिपर महर्षिको चिन्ता हुई कि इसे कौन धारण करनेको समर्थ होगा, उसी समय लव-कुशने आकर चरण गहे। इन्हें ही महर्षिने पढ़ाया।

वेदान्तभूषणजी लिखते हैं कि प्रायः किसी प्रामाणिक आर्षग्रन्थमें ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि श्रीरामजी पिताकी शेष आयु लेकर ही ग्यारह हजार वर्षतक जीवित रहे और ऐसा माननेसे अनेक शङ्काएँ उपस्थित हो जाती हैं। जैसे कि—श्रीभरतादि भाई भी तो उतने ही वर्ष जिये तब इन्होंने किसकी आयु भोग की? कौसल्यादि माता कैसे ११ हजार वर्षसे अधिक जीवित रहीं, उन्होंने किसकी आयु भोग की? सुमन्त्र, सिद्धार्थ, अकोप, धर्मपाल आदि क्योंकर श्रीदशरथराज्यके प्रारम्भसे लेकर श्रीरामराज्यके अन्ततक जीवित रहे? यदि इन लोगोंकी आयुका कोई नियम न था तब श्रीरामजीके ऊपर आयुका नियमित प्रबन्ध क्यों लगा दिया गया?

अस्तु। वस्तुतः आयुका नियम संख्याबद्ध न कभी रहा और न आज ही है। बात यह है कि जिस कालमें धार्मिक व्यवस्था जितनी ही उन्नत दशापर रहती है, उस समयके स्थान, आहार, जल और वायुके उतने अधिक स्वच्छ एवं शुद्ध होनेसे उस कालमें आयुकी अधिकता तथा मानसिक एवं शारीरिक शक्तियोंकी

प्रौढता रहती थी। और धर्मके ह्रासत्व कालमें आयु आदिका ह्रास होना अनिवार्य है। यही मनुके इस वाक्य '**धर्म एव हतो हन्ति धर्मो रक्षति रक्षितः।**' का तात्पर्य है।

इसका कोई भी लिखित पुष्ट प्रमाण नहीं है कि त्रेतामें सभी मनुष्योंकी आयु दस हजार वर्षकी होती थी, कम या विशेष नहीं। श्रीदशरथजी साठ हजार वर्षके हो चुके थे जब उनको पुत्र प्राप्त हुए। यथा—'**षष्टिर्वर्षसहस्राणि जातस्य मम कौशिक।**'.........(वाल्मी० १। २०। १०) ताराने श्रीरामजीके पूछनेपर कहा कि वालीने अपनी मृत्यु (आज) से साठ हजार अस्सी वर्ष पूर्व दुन्दुभीको मारा था, उसी साल आपके पिता श्रीदशरथ महाराजका राज्याभिषेक हुआ था (प० पु० पाताल० ११६। १९०-१९१)। भा० ९। ११। १८ में शुकदेवजीने कहा है कि श्रीसीताजीके विवरमें प्रवेश करनेके पश्चात् अखण्डब्रह्मचर्य धारणकर '**त्रयोदशाब्दसाहस्रमग्निहोत्रमखण्डितम्**' १३ हजार अग्निहोत्र किया। वाल्मी० के '**दशवर्षसहस्राणि दशवर्षशतानि च। रामो राज्यमुपासित्वा ब्रह्मलोकं प्रयास्यति॥**' (१। २। १७) की व्याख्या करते हुए शिरोमणि टीकाकारने श्रीरामजीका राज्यकाल तैंतीस हजार वर्ष सिद्ध किया है। श्रीदशरथजी ६० हजार वर्षसे अधिक राज्यभोग करके पुत्रवान् हुए तब उन्हींके चारों पुत्र ३३ (वा कुछ लोगोंके मतसे ११) हजार वर्षकी आयु पाकर परम धामको गये तो इसमें आश्चर्य क्या? किसीने किसी दूसरेकी आयु नहीं भोग की।

☞ यह भी स्मरण रखना चाहिये कि यह आयु एवं शक्तियोंकी व्यवस्था बद्ध जीवोंके लिये है, नित्य जीवों तथा ईश्वरके लिये नहीं और श्रीभरत, लक्ष्मण, शत्रुघ्न किसी प्रकारके जीव न थे, वे तीनों भाई तो साक्षात् नारायण थे। प्रमाण बालकाण्डमें आ चुका है। ईश्वर काल-कर्माधीन नहीं है वह तो स्वेच्छावर्ती है, चाहे किसी रूपमें कुछेक क्षणमात्र रहे चाहे अनेकों युग।

नोट—'*बिजई बिनई गुन मंदिर.........*' बिजई ऐसे कि रामजीकी सारी सेनाको जीत लिया। वीरकी शोभा नम्रतासे है, सो ये विनम्र हैं। पुनः *बिनई* =नीतिज्ञ। गुणमन्दिर अर्थात् गान-विद्या-शस्त्रास्त्र-विद्यामें निपुण हैं। पुनः ['*बिनई*' इससे कहा कि जब उन्होंने पहिचान लिया कि ये तो हमारे पिता, चाचा आदि हैं तब उन्होंने विनय की थी—(म० म०)] हरि प्रतिबिम्ब यथा—'**आत्मा वै जायते पुत्रः**' इसीसे अति सुन्दर हैं।

'*दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे.........।*' इति। जब रामजीके दो पुत्र हुए तब उन्होंने अपने भाइयोंको भी दो-दो पुत्र दिये। उन आठों पुत्रोंको रामजीने आठों दिक्पालके बराबर पालन करनेकी शक्ति दी, क्योंकि उन्हें आठों दिशाओंका पालन करना है।

प० प० प्र०—'*बिनई*' से सूचित किया कि रामायण गाकर सुनानेपर श्रीरामजी पारितोषिक देने लगे तब उन्होंने नहीं लिया। इस अर्धालीमें '*गुन मंदिर*' शब्द रखनेसे ही '*हरि प्रतिबिंब*' की सार्थकता हुई अन्यथा 'प्रतिबिम्ब' (प्रतिकृति) कहना अयुक्त और अव्याप्ति दोषयुक्त होता। जैसे श्रीरामजीको 'गुणमन्दिर' कहा है वैसे ही इनको भी कहना जरूरी था। प्रतिबिम्ब और गुणमन्दिरके साहचर्यसे 'सुखमन्दिर, क्षमामन्दिर, सुन्दरतामन्दिर' का अध्याहार भी यहाँ सूचित किया।

नोट—(क) श्रीसीताजीके इन पुत्रोंका नाम दिया गया। श्रीभरतजीके श्रीपुष्कलजी और श्रीतक्षकजी, श्रीलक्ष्मणजीके श्रीअङ्गद और श्रीचित्रकेतुजी और श्रीशत्रुघ्नजीके श्रीश्रुतिसेन और श्रीसुबाहु पुत्र हुए। यथा—'**अङ्गदश्चित्रकेतुश्च लक्ष्मणस्यात्मजौ स्मृतौ। तक्षः पुष्कल इत्यास्तां भरतस्य महीपते॥ सुबाहुः श्रुतसेनश्च शत्रुघ्नस्य बभूवतुः।**' (भा० ९। ११। १२-१३) (ख) '*बेद पुरानन्ह गाए*' (इति। ऋ० ७२। ८) तै० अ० १। १३। २, तांड्य ब्रा० २४। १२। ६ '**अष्टौ पुत्रासौ अदितिर्ये जातास्यन्वस्परि।**' पर श्रीनीलकण्ठजीके भाष्यका हिन्दी-अर्थ यह है—यहाँ 'अदिति' शब्दमें देवमाता कश्यपपत्नीका ग्रहण नहीं है क्योंकि उनके आठ ही नहीं अपितु अनेक पुत्र थे, अतः यहाँ अदिति शब्दसे सीताजी और पृथ्वीका ग्रहण ही समीचीन है। अर्थ यह होगा—'सीताजीके कुश-लवादि आठों पुत्रगण (अलग-अलग) पृथ्वीके शरीर अर्थात् विभिन्न खण्डोंके ऊपर राजा हुए। ऋग्वेद १। ११९ पूरे सूक्तके ऋषि लव ही हैं। आठ पुत्रोंकी समस्याकी पूर्ति इस प्रकार वे० भू० जी करते हैं कि जैसे श्रीरामजीने चाररूपसे दशरथपुत्ररूपमें अवतार लिया था, उसी तरह सीताजी

भी चार रूपसे अवतरित हुई थीं; इसीसे वेदने चारों बहिनोंके आठों पुत्रोंको सीताजीका ही पुत्र कहा है। (ग) *'रूप गुन सील घनेरे'* इति। पहले कहा कि मानो हरिके प्रतिबिम्ब हैं। अब बिम्बके गुण प्रतिबिम्बमें दिखाते हैं जैसे कि श्रीसीताजीके प्रतिबिम्बमें श्रीसीताजीके गुण थे—*'निज प्रतिबिंब राखि तहँ सीता। तैसइ सील रूप सुबिनीता॥'* प्रतिबिम्ब बिम्बका अनुसरण करता ही है—*'जिमि पुरुषहि अनुसर परिछाँहीं'* (अ० १४१)। बालकाण्डमें चारों भाइयोंके विषयमें कहा है कि *'चारिउ रूप सील गुनधामा। तदपि अधिक सुखसागर रामा॥'* अतः उनके प्रतिबिम्बमें भी कहा कि *'भए रूप गुन सील घनेरे।'*

गौड़जी—महाभारतमें द्रोणपर्वके ५९ वें अध्यायमें रामराज्यका वर्णन करते हुए नारदजीने संजयसे कहा है कि 'रामचन्द्रके राज्यकालमें मनुष्योंके सहस्र अर्थात् बहुत पुत्र होते थे और सब हजार वर्षतक जीवित रहते थे।' यहाँ यह बात ध्यान रखनेके योग्य है कि हजार ही वर्ष परमायु लिखी गयी है, १० हजार वर्ष नहीं। भगवान् रामचन्द्रजीने तो सब मिलाकर ११ हजार वर्षसे ऊपर राज्य किया है, इस दीर्घ परमायुमें भाई भी शामिल हैं। साथ ही जब श्रीरामचन्द्रजी और भाई लोग १० हजार वर्षके हो चुके तब इन लोगोंके केवल दो-दो पुत्र हुए। स्मृतियाँ कहती हैं कि बिना पुत्रके पितरोंका निस्तार नहीं होता। पुत्र उत्पन्न करना प्रजा-पतिधर्म है। साथ ही एक पुत्रका होना पुत्रहीनके बराबर समझा जाता है। ब्रह्मचर्यका पालन भी हो और यथा समय सन्तान भी हो ये दोनों गृहस्थके कर्तव्योंमें हैं। ब्रह्मचर्यका प्रभाव शरीरपर अद्भुत होता है। इन्द्रियाँ समर्थ बनी रहती हैं, आयु, तेज, यश, बल एवं शारीरिक सौन्दर्य क्षीण नहीं होते। मर्यादापुरुषोत्तमने जो सबसे बड़ी बात चरित्र-सम्बन्धी इस अवतारमें दिखायी है वह है संयम और ब्रह्मचर्यकी महिमा। विवाहके पहलेकी तो कोई बात ही नहीं, विवाहके बाद भी अवधनिवास, चतुर्दशवर्षका वनवास, एवं १० हजार वर्षतकका एक अनवरत इतिहास है। बड़े भाई श्रीरामचन्द्रजीका ऐसा अनुपम ब्रह्मचारी जीवन श्रीसीताजीके साथ रहते हुए भी जब भाई लोग देखते हैं, तो उनके ऊपर भी वही प्रभाव पड़ता है। वनगमनसे पूर्वकी अनुपम ब्रह्मचर्यावस्थाके ज्ञानका भाइयोंपर कितना बड़ा प्रभाव पड़ता है, आगेका चरित उसका साक्षी है। उर्मिलाका चुपचाप त्याग करके १४ वर्षके लिये वनको लक्ष्मणका जाना अथवा घर रहते ही श्रीमाण्डवीजीका त्याग करके नन्दिग्राममें रहकर श्रीभरतजीकी तपस्या, लक्ष्मणजी और भरतजीको बड़े भाईके ही अनुकरणसे प्राप्त होती है। वनवासमें रावण-वधके लिये सीताकी आवश्यकता न होती तो शायद रामायणी कथा और तरहपर लिखी जाती और नीरस तथा शुष्क हो जाती। सीताजीका सङ्ग जाना तो प्रयोजनीय ही था। १४ वर्षतक वनमें रहकर तापस धर्मके निर्वाहके लिये सीताजीका सङ्ग होना एक स्वयं अग्निपरीक्षा थी। यह वह कठोर व्रत था जो लक्ष्मणजीके पल्ले नहीं पड़ा था। हनुमान्‌जीके जीवनमें भी अखण्ड ऊर्ध्वरेताका उदाहरण है। परन्तु वह अग्निपरीक्षा नहीं है। लक्ष्मण और भरतजीकी भी परीक्षा वैसी नहीं है। यदि इसी तरहकी अग्निपरीक्षापर कोई खरा उतरा है तो सबसे छोटे भाई शत्रुघ्नजी जिनकी कोई चर्चा ही नहीं करता है। इस तरह चारों भाई और हनुमान्‌जी अखण्डब्रह्मचर्यके अलग-अलग आदर्श हैं। जिस रामायणी कथामें पिताके सात सौसे अधिक रानियाँ हों और सुग्रीव-विभीषण-सरीखे सखा हों, जिन सबका बहुत भारी आदर है, बड़ा सम्मान है, उसीमें प्रभु और प्रभुके सन्निकटतमवर्तियोंमें अद्भुत ब्रह्मचर्यव्रतका उदाहरण अत्यन्त उत्कृष्ट और विलक्षण चित्र है। भाईलोग पिताका अनुकरण नहीं करते क्योंकि लक्ष्मणजीकी तरह सभी अपने चरितकी रसनासे यह कहते हैं—*'गुर पितु मातु न जानउँ काहू। कहउँ सुभाउ नाथ पतियाहू॥'* वह गुरुके आदर्शपर चलते तो कम-से-कम सौ बेटे पैदा करते और पिताके आदर्शपर चलते तो चारों भाई मिलकर तीन हजार रानियाँ ब्याहते। भाइयोंके सामने तो आदर्श था प्रभुका और प्रभुके ब्रह्मचर्य और कठोर संयमका। शत्रुघ्नजी तो चरितका चुपचाप अनुकरण करनेवालोंमें थे। भरतजीकी तपस्याका बहुत थोड़ा वर्णन हुआ है। शत्रुघ्नजीकी सेवाका वर्णन इसीलिये नहींके बराबर है परन्तु शायद भरतजीके चरितके इस सम्बन्धका विस्तार होता तो शत्रुघ्नजीके चरितका भी कुछ विशेष विस्तार मिलता। तो भी इसमें तो तनिक भी सन्देह नहीं कि चारों भाई ११ हजार वर्षके ऊपर जीवित रहकर भी तेजोमय,

बलवान्, धृतिमान्, वशी और पूर्ण यौवन-सम्पन्न बने रहे। तबतक युवा बने रहनेकी चर्चा महाभारत, रामायण और पद्मपुराणादि महापुराणोंमें भी जहाँ कहीं रामचरित वर्णित है, आयी है। १० हजार वर्षोंके बाद सन्तान होनेसे यह भी प्रकट है कि ब्रह्मचर्यका लाभ देवियोंको भी हुआ है। गृहस्थोंका ब्रह्मचर्य जैसे उभयपक्षी है वैसे ही उसके लाभ भी उभयपक्षी हैं, नहीं तो १० हजारवर्ष बीतनेपर सन्तानका होना कल्पनातीत विषय है। प्रजाओंमें जान पड़ता है कि राजाका अनुकरण इस बातमें कम ही लोगोंने किया होगा। क्योंकि उनकी परमायु युगधर्मानुसार एक हजार वर्षोंसे आगे न बढ़ी और लोगोंके हजार-हजारतक सन्तानें भी हुईं। विज्ञानके अनुसार विकास क्रममें ज्यों-ज्यों उच्चताकी दशा आती है त्यों-त्यों आयु भी बढ़ती है और सन्तानकी संख्या घटती है। प्रभुने ब्रह्मचर्यके सम्बन्धमें उपदेश भी काफी किये हैं और विभीषणके प्रति धर्मरथका निर्देश करते हुए तो ब्रह्मचर्यपरायणको अजेय बताया है। त्रेता युगमें ११ हजारवर्षतक जीना ही ब्रह्मचर्यका एक स्पष्ट चमत्कार है और जराव्याधिरहित पूर्ण यौवनका बना रहना तो उसका सहगामी है ही। प्रभुके उत्तरचरितमें इस घटनाका बहुत बड़ा महत्त्व है।

दो०—ज्ञान गिरा गोतीत अज माया मनु गुन पार।
सोइ सच्चिदानंदघन कर नर चरित उदार॥ २५॥

अर्थ—जो ज्ञान, वाणी और इन्द्रियोंसे परे, अजन्मा, माया, मन और गुणोंके पार हैं, वही सत्, चित् और आनन्दके समूह उदार नर चरित करते हैं। (भाव कि सच्चिदानन्दघन इस बड़े पदको सामान्य जानकर और चरित्रको विशेष समझकर वे नरनाट्य करते हैं)॥ २५॥

टिप्पणी—१ ज्ञान चार प्रकारका है—प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द। इन सबसे भिन्न हैं। २—*'गोतीत'* अर्थात् इन्द्रियोंसे भिन्न हैं। क्योंकि उनके रूप नहीं है जो देखनेवाला नेत्रोंसे देखे। वह परमात्मा गन्ध नहीं है जो नासिकासे जाना जाय। वह शब्द नहीं है जो कानसे सुना जाय। वह रस नहीं है जो जिह्वासे जाना जाय और न शरीर है जो स्पर्श किया जाय। (अर्थात् वह इन्द्रियोंका विषय नहीं है इसीसे इन्द्रियोंद्वारा उसका ज्ञान नहीं हो सकता) [*'ज्ञान गिरा गोतीत'*, यथा—*'सुखसंदोह मोहपर ज्ञान गिरा गोतीत॥'* (१। १९९), *'मन ज्ञान गुन गोतीत प्रभु मैं दीख जप तप का किए।'* (आ० ६ छं०), **'ज्ञान गिरा गोतीतमनूपं।'** (आ० ११। ११), **'नैव वाचा न मनसा प्राप्तुं शक्यो न चक्षुषा।'** (कठ० २। ३। १२)] ३—माया-पार है इसीसे उसका नाम अच्युत है। *'मायापार'*, यथा—(*'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोहपार परमीसा॥'* गुणपार अर्थात् निर्गुण है इसीसे मायासे भिन्न है क्योंकि माया त्रिगुणात्मिका है। ४—*'सच्चिदानन्द'*=सत्+चित्=आनन्द। **'सत् अस्तीति सतः' 'चित चिती संज्ञाने'** अर्थात् 'ज्ञानस्वरूप, यथा—*'ज्ञान अखंड एक सीताबर।'* * ५—*'नर चरित उदार'* इति। चरित श्रेष्ठ है इसीसे सनकादि इसे सुनते हैं, यथा—*'जीवन्मुक्त ब्रह्म पर चरित सुनहिं तजि ध्यान।'* अथवा, *'सच्चिदानंदघन कर नर चरित उदार'* का अर्थ यह है कि सच्चिदानन्द चरित करते हैं, अर्थात् उनके चरित्र भी सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, जो शक्ति सच्चिदानन्दमें है वही उनके चरितमें है।—[पां०—यहाँ *'नर चरित'* से सन्तान पैदा करना, इत्यादि तात्पर्य है। वह उदार है अर्थात् कल्याणकारक है।]

वि० त्रि०—जब-जब सरकारके चरितमें अतिशयता आती है तो श्रोताओंको सावधान करनेके लिये श्रीगोस्वामीजी सहज स्वरूपके विशेषण देने लगते हैं, यथा—*'ब्यापक ब्रह्म निरंजन निर्गुन बिगत बिनोद। सो अज प्रेम भगति बस कौसल्या के गोद॥', 'सुख संदोह मोहपर ग्यान गिरा गोतीत। दंपति परम प्रेम बस कर सिसु चरित पुनीत॥', 'ब्यापक अगुन अनीह अज निर्गुन नाम न रूप। भगत हेतु नाना बिधि करत चरित अनूप॥'* शिशुचरित, बालचरित और कुमारचरित ऐसे सरल और सुहाये थे कि श्रोताको सुनकर सरकारमें नर-बुद्धि होनेकी सम्भावना हो जाती है, अतः *'निर्गुन नाम न रूप, अज, ज्ञानगिरा गोतीत'*

* रा० प्र०—'गुन पार' 'सच्चिदानन्द घन' के भाव। गुण जब पृथक् हुए तब उनका नाम सत्त्व, रज, तम पड़ा। सत्, चित्, आनन्द तीन खण्ड होकर ब्रह्मादिक लोकादि सब कल्पना कर चरित करते हैं।

व्यापक विशेषण देकर सावधान करते हैं। अधिक बड़े होनेपर लीलामें ऐश्वर्यकी झलक बराबर मिलती रहती है, अतः विशेषरूपसे सावधान करनेकी आवश्यकता नहीं है, फिर भी जहाँ आवश्यकता पड़ी वहाँ श्रीगोस्वामीजीने सावधान करनेमें चूक नहीं किया।

अब तो रावणवध हो चुका, सरकार राज्यसिंहासनासीन हो चुके। *'भूमि सप्तसागर मेखला। एक भूप रघुपति कौसला॥'* सुस्थिररूपसे राज्य कर रहे हैं। सब मिलाकर आठ बेटे हुए। उनका लालन-पालन, संस्कार, विवाहोत्सवादि उसी प्रेम और उत्साहके साथ सरकार कर रहे हैं, जैसे कि प्राकृत पुरुष पुत्र-पौत्रोंके प्रपञ्चमें पड़ा हुआ किया करता है, अतः श्रोताओंकी सावधानीके लिये यहाँ फिर गोस्वामीजीने ज्ञान गिरा गोतीत, मायागुणगोपार आदि विशेषण देकर *'कर नर चरित उदार'* कहा। चरितको उदार कहनेका यह भाव भी है कि अपने पुत्रों और भ्रातृपुत्रोंमें भेद न माना। जो उदार भाव सिंहासनासीन होनेके पहिले था, यथा—*'बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥'* वही उदार भाव अन्ततक कायम रहा। सरकारने आठोंको भिन्न-भिन्न स्थानोंका राजा बनाया।

नोट—गोस्वामीजीने श्रीरामावतार और उनके चरितको *'परम उदार'* कहा है—आ० ४२ (१), लं० ३३ (४) देखिये। गीतावली और विनयमें भी कहा है—*'रघुनाथ तुम्हारे चरित मनोहर गावत सकल अवधबासी।' 'अति उदार' 'अवतार मनुज बपु धरे ब्रह्म अज अबिनासी॥', 'हरिहु और अवतार आपने राखी बेद बड़ाई। लै च्यूरा निधि दई सुदामहिं जद्यपि बालमिताई.........।'*

☞ *'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे'* से *'ज्ञान गिरा गोतीत.........'*, इस दोहेतक क्रमसे परिकरोंसमेत रामजीका वर्णन किया गया है।

प्रथम श्रीरामजीका वर्णन किया	**कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे**
दूसरे श्रीसीताजीका वर्णन किया	**पति अनुकूल सदा रह सीता**
तीसरे तीनों भाइयोंको कहा	**सेवहिं सानुकूल सब भाई**
चौथे अयोध्यावासियोंको कहा	**हरषित रहहिं नगरके लोगा**
अन्तमें चारों भाइयोंके पुत्रोंको कहा	**दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे**

मा० म०—वही सच्चिदानन्दघन नरचरित कर रहा है, इस कथनके अभ्यन्तर यह भाव है कि श्रीरामचन्द्रने पिताकी आयु भोगनेके निमित्त धर्मरक्षणार्थ जानकीको ब्रह्मावर्त्तमें भेज दिया, यह माधुर्यलीला है।

गौड़जी—सच्चिदानन्द परतम परब्रह्मको किसीका वध करनेके लिये जन्म लेने, विवाह करने, वनवास करने, राज्य करने वा सन्तान उत्पन्न करनेके लिये किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं है। भृकुटि विलास-मात्रमें असंख्य विश्व बनते, विलसते और बिगड़ते रहते हैं तो उसमें किसी एकके एक क्षणके नीलवें भागमें मर जानेका क्या महत्त्व है। सहज लीलाकी ओर प्रवृत्त होकर प्रभु मनुष्यके सामने जीवनके आदर्शकी मर्यादा बाँधनेके लिये विश्वकी रंगभूमिमें स्वयं अवतीर्ण होते हैं। ऐसी दशामें ऐश्वर्य दिखाना तो कभी इष्ट हो ही नहीं सकता। जितने चरित किये हैं सब-के-सब पूर्णतया स्वाभाविक हैं। धर्मकी सूक्ष्म-से-सूक्ष्म गतिविधिपर बड़ी कठोर दृष्टि करते हुए और जीवनमें पूर्ण निर्वाह करते हुए एक भी चरित प्रभुका ऐसा नहीं है जो अस्वाभाविक या अलौकिक कहा जा सके। यह बात दूसरी है कि आदर्शका हम अनुकरण कर सकते हैं परन्तु आदर्शकी पूरी ऊँचाईतक पहुँच जाना हमारे लिये सम्भव नहीं है। इसीलिये कहा है कि भगवान् जो नरचरित करते हैं वह उदार है अर्थात् उसमें सभी तरहके मनुष्योंके अनुकरणके लिये गुञ्जाइश है। दुर्बल-से-दुर्बल थोड़ा बहुत अपने चरितको सुधार सकता है। कोई अलौकिकता नहीं है जो अनुकरण करनेवालेके लिये बहाना बन सके। इसीलिये प्रभुका चरित बारम्बार गानेसे श्रद्धा उत्पन्न होती है, उसके प्रति अनुराग होता है और अनुरागसे अनुकरणकी ओर मनकी प्रवृत्ति होती है और अनुकरणसे सद्गतिका बीमा हो जाता है—यही भगवान्के जन्म-कर्मका तत्त्वतः जानना है। जो तत्त्वतः जान जाता है वह प्रभुको पहुँचता है।

दिनचर्या

प्रातकाल सरजू करि मज्जन। बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन॥ १॥
बेद पुरान बसिष्ट बखानहिं। सुनहिं राम जद्यपि सब जानहिं॥ २॥
अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं। देखि सकल जननी सुख भरहीं॥ ३॥
भरत सत्रुहन दोनौ* भाई। सहित पवनसुत उपबन जाई॥ ४॥
बूझहिं बैठि राम-गुन-गाहा। कह हनुमान सुमति अवगाहा॥ ५॥

शब्दार्थ—**प्रातकाल**—तीन घड़ी रात्रि रहनेपर प्रातःकाल कहा जाता है।

अर्थ—प्रातःकाल (ब्राह्म मुहूर्तमें ब्राह्मणों और सज्जनोंके साथ) सरयू-स्नान करके ब्राह्मणों और सज्जनोंके साथ सभामें बैठते हैं॥ १॥ श्रीवसिष्ठजी वेदपुराण कहते हैं और श्रीरामजी सुनते हैं। यद्यपि वे सब जानते हैं॥ २॥ भाइयोंसहित भोजन करते हैं, समस्त माताएँ देखकर आनन्दसे भर जाती हैं॥ ३॥ श्रीभरतजी और श्रीशत्रुघ्नजी दोनों भाई पवनसुत हनुमान्‌जी समेत कृत्रिम वनमें जाकर वहाँ बैठकर रामगुणगाथा पूछते हैं और हनुमान्‌जी अपनी सुन्दर बुद्धिसे उसमें गोता लगाकर उसे कहते हैं॥ ५॥

☞इस दोहेमें श्रीरामसहित सबकी दिनचर्या कहते हैं।

टिप्पणी—१ सरयू-स्नानका भाव कि नदीका स्नान उत्तम है, तड़ाग-स्नान मध्यम है और कूप-स्नान निकृष्ट है। [पुनः भाव कि यद्यपि प्रभु परम-पावन और समर्थ हैं तो भी लोकशिक्षार्थ तीर्थका मान रखनेके निमित्त सरयूमें ही स्नान करते हैं और नीति-धर्म-स्थापन-हेतु ब्राह्मणों और सत्पुरुषोंकी सभा लगाते हैं। सब इसका अनुसरण करें, इसलिये प्रभु स्वयं ऐसा आचरण करते हैं। (पं०)] ***'संग द्विज सज्जन'*** का सम्बन्ध ***'करि मज्जन'*** और ***'बैठहिं सभा'*** दोनोंके साथ है। पुनः, द्विज सज्जन कथाश्रवणके अधिकारी हैं, इसीसे श्रीरामजी इनको सभामें लेकर कथाकी सभामें बैठते हैं।

२ ***'बेद पुरान………'*** इति। वेद-पुराण कहनेका भाव कि वेदोंकी कठिनता पुराणोंसे स्पष्ट कर देते हैं। ***'जद्यपि सब जानहिं'*** का भाव कि जानी हुई कथामें मन नहीं लगता पर श्रीरामजी सब जानते हैं तो भी ऐसा मन लगाकर सुनते हैं मानो जानते ही नहीं, यथा—***'बेद पुरान सुनहिं मन लाई। आपु कहहिं अनुजन्ह समुझाई॥'*** (१। २०५। ६) ☞राजाको ऐसा ही उचित है कि जाननेपर भी नीति और धर्मकी कथा सुना करे। ☞ऐसा प्रवाद है कि व्यासजीने पुराण द्वापरमें बनाये पर यहाँ वसिष्ठजी त्रेतामें बखानते हैं। इससे पाया गया कि पुराण अनादि हैं। पुराण इतने अनादि हैं कि इनके पहले कोई ग्रन्थ न थे, ऐसा लिखा है। [मनुस्मृति सबसे प्रथम मानी जाती है तो उसमें भी श्राद्धमें पुराणोंका श्रवण करना लिखा है और उपनिषदोंमें तो पुराणोंका नाम मिलता ही है। इससे निश्चित है कि पुराण अनादि हैं। (पं० रा० व० श०)]

२ (क) ***'अनुजन्ह संजुत भोजन करहीं'***, यह सदाका स्वभाव है, यथा—***'अनुज सखा सँग भोजन करहीं। मातु पिता अग्या अनुसरहीं॥'*** (१। २०५) (ख) ***'देखि सकल जननी सुख भरहीं।'*** माताको पुत्रके भोजन करनेमें बड़ा सुख होता है। इसीसे लिखते हैं कि ***'देखि………।'*** इसी तरह पुत्रको गुणी देखकर पिताको सुख होता है, यथा—***'आयसु माँगि करहिं पुर काजा। देखि चरित मन हरषहिं राजा॥'*** (१। २०५) ☞स्नान करके सभामें बैठकर कथा सुनकर तब भोजन करते हैं यह तीसरी दिनचर्या हुई।

३ ***'भरत सत्रुहन दोनौ भाई।………'*** इति। ☞यह भोजनोत्तर दूसरी जून (तीसरे पहर) की चर्या है। सभामें वेद-पुराणके वक्ता वसिष्ठजी हैं। रामचरितके वक्ता हनुमान्‌जी हैं। उपवनमें जाकर सुननेका भाव कि रामचरित गूढ़ है, यथा—***'श्रोता बक्ता ग्याननिधि कथा राम कै गूढ़'***—(बा०); अतः उसे एकान्तमें जाकर सुनते हैं। [ये वनमें साथ न थे इससे इनका हनुमान्‌जीसे वनचरित पूछना जनाया।]

* दूनौ—का०।

४ *'सुमति अवगाहा।' गाह विलोडने।* गाह धातु विलोडन अर्थात् मन्थन अर्थमें है। बुद्धिसे मन्थन करके कहते हैं। तात्पर्य कि अपनी समझी हुई बात अच्छी तरह कहते बनती है इससे समझकर कहते हैं।—[मानसमें डुबकी लगानेसे बुद्धि निर्मल हो जाती है तब कथा कहते बनती है, यथा—*'भइ कबिबुद्धि बिमल अवगाही''''''''चली सुभग कबिता सरिता सी॥'* (१। ३९। ९—११)]

नोट—१ प्रात:काल सरयू-स्नान करते हैं। स्नानके बाद ब्राह्मण और सज्जनोंसहित सभामें बैठते हैं और वसिष्ठजीसे वेदपुराण सुनते हैं। इसके बाद भोजनके समय (लगभग दोपहरको) भाइयोंसहित भोजन करते हैं।-यह तो सब भ्राताओंकी साथ-साथ एक ही दिनचर्या हुई। इससे पृथक् जो भाइयोंकी दिनचर्या है वह *'भरत सत्रुहन''''''''''* में कही। श्रीभरत, शत्रुघ्नजी भोजनके उपरान्त उपवनमें जाकर श्रीहनुमान्‌जीसे श्रीरामगुणानुवाद सुनते हैं। यहाँ लक्ष्मणजीका नाम न देकर जनाया कि वे भोजनके बाद प्रभुकी ही सेवामें रहते हैं। इसके बाद प्रजाका भी वैसा ही अनुकूल आचरण दिखाते हैं।

सरयूस्नान और उसके बादकी छटा गीतावलीमें देखने योग्य है।

'रघुपति राजीवनयन सोभा तन कोटिमयन करुनारस अयन चैन रूप भूप माई।
देखो सखि अतुलित छबि संत कंज काननरवि गावत कल कीरति कबि कोबिद समुदाई॥
मज्जन करि सरजु तीर ठाढ़े रघुबंस बीर सेवत पद कमल धीर निर्मल चित लाई।
ब्रह्ममंडली मुनींद्र बृंद मध्य इंदु बदन राजत सुख सदन लोक-लोचन-सुखदाई॥
बिथुरित सिररुह बरूथ कुंचित बिच सुमन जूथ मनियुत सिसु फनि अनीक ससि समीप आई।
जनु सभीत दै अकोर राखे जुग रुचिर मोर कुंडल छबि निरखि चोर सकुचत अधिकाई॥
ललित भृकुटि तिलक भाल चिबुक-अधर-द्विज-रसाल हास चारुतर कपोल नासिका सोहाई।
मधुकर जुग पंकज बिच सुक बिलोकि नीरजपर लरत मधुपअवलि मानो बीच कियो आई॥
सुंदर पटपीत बिसद भ्राजत बनमाल उरसि तुलसिका प्रसून रचित बिबिध बिधि बनाई॥
तरु तमाल अधबिच जनु त्रिबिध कीर पाँति रुचिर हेमजाल अंतर परि ताते न उड़ाई॥
संकर हृदि पुंडरीक निबसत हरि-चंचरीक निर्ब्यलीक मानसगृह संतत रहे छाई।
अतिसय आनंदमूल तुलसिदास सानुकूल हरन सकल सूल अवध मंडल रघुराई॥' (गी० ७। ३)

'देखु सखि आजु रघुनाथ सोभा बनी।
नील नीरद बरन बपुष भुवनाभरन पीत-अंबर-धरन हरन-दुति-दामिनी॥
सरजु मज्जन किहे संग सज्जन लिहे हेतु जन पर हिये कृपा कोमल घनी।
सजनि आवत भवन मत्त गज बर गवन लंक मृगपति ठवनि कुँवर कोसलधनी॥
सघन चिक्कन कुटिल चिकुर बिलुलित मृदुल करनि बिबरत चतुर सरस सुखमा जनी।
ललित अहिसिसु निकर मनहुँ ससि-सन समर लरत धरहरि करत रुचिर जनु जुग फनी॥
भाल भ्राजत तिलक जलजलोचन पलक चारु भ्रू नासिका सुभग सुक आननी।
चिबुक सुंदर अधर अरुन द्विज दुति सुघर बचन गंभीर मृदुहास भव भाननी॥
श्रवन कुंडल बिमल गंड मंडित चपल कलित कल-कांति अति भाति कछु तिन्ह तनी।
जुगल कंचन मकर मनहुँ बिधुकर मधुर पिबत पहिचानि करि सिंधु कीरति भनी॥
उरसि राजत पदिक जोति रचना अधिक माल सुबिसाल चहुँ पास बनि गजमनी।
स्याम नव जलद पर निरखि दिनकर कला कौतुकी मनहुँ रहि घेरि उडगन अनी॥
मंदिरन्हि पर खड़ी नारि आनंद भरी निरखि बरषहिं बिपुल कुसुम कुमकुम कनी।
दास तुलसी राम परम करुनाधाम काम सतकोटि मद हरत छबि आपनी॥' (गी० ७। ५)

सुनत बिमल गुन अति सुख पावहिं। बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं॥ ६॥
सब के गृह गृह होहिं पुराना*। रामचरित पावन बिधि नाना॥ ७॥
नर अरु नारि राम गुन गानहिं। करहिं दिवस निसि जात न जानहिं॥ ८॥

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके निर्मल गुणोंको सुनकर अत्यन्त सुख पाते हैं और बार-बार विनती करके बार-बार कहलवाते हैं॥ ६॥ सबके यहाँ घर-घर पुराण और अनेक प्रकारके पवित्र रामचरित होते हैं (वा, पुराणोंमें नाना प्रकारके पावन रामचरित हैं। वा रामचरितोंके द्योतक जो-जो पुराण हैं—वे होते हैं)॥ ७॥ स्त्री और पुरुष रामगुण-गान करते हैं और (इस सुखमें) दिन-रात जाते नहीं जानते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुनत बिमल गुन'* श्रीरामजीके गुण विमल हैं अर्थात् छल और अधर्मसे रहित हैं। तात्पर्य कि उन्होंने किसी राक्षसको छल वा अधर्मसे नहीं मारा। (ख) *'बहुरि बहुरि………'* इति। बार-बार कहलानेसे सूचित हुआ कि सुनकर दोनोंको तृप्ति नहीं होती।

नोट—१ *'करि बिनय कहावहिं'* से उपदेश देते हैं कि रामचरितका ज्ञाता जब मिले तब उससे रामगुण सुने, उससे विनती करके कहलावे, नहीं तो रामचरित गोपनीय पदार्थ है। यह सहज ही किसीसे कहने योग्य नहीं है। भुशुण्डिजी और पार्वतीजीकी कथा इसके प्रमाण हैं। देखिये ब्रह्मलोकमें ब्रह्मादिक नारदजीसे बारम्बार पूछते कहलाते हैं यथा—*'नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥ सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥'* (४२। ५-६)

२ *'गृह गृह होहिं पुराना'*—यहाँ 'वेद' को न कहा क्योंकि वेदके अधिकारी सब नहीं होते हैं। *'बैठहिं सभा संग द्विज सज्जन॥ बेदपुरान बसिष्ठ बखानहिं'* से जान पड़ता है कि वेदके अधिकारी विप्र और सज्जन सब उस सभामें रहते हैं।

३ *'नर अरु नारि राम गुन गानहिं। करहिं………'* यहाँ कहा और *'गृह गृह पुरान होहिं'* कहा। क्रियाके भेदसे सूचित किया कि पण्डित पुराण कहते हैं और सब सुनते हैं, वक्ता पुराणका एक है, श्रोता अनेक हैं और राम-गुणगान सभी करते हैं। गुणगानमें नर और नारी दोनोंको कहा क्योंकि रामगुणगान करनेका अधिकार स्त्री-पुरुष तथा ऊँच-नीच सभीको है। *'दिवसनिसि जात न जानहिं'* यह पुरवासियोंका प्रेम और आनन्द दिखाया जैसे *'बहुरि बहुरि करि बिनय कहावहिं'* से श्रीभरतशत्रुघ्नका प्रेम दिखाया था। सुखके दिन जाते जान नहीं पड़ते, तथा—*'प्रेम मगन कौसल्या निसि दिन जात न जान।'* (१। २००), *'जात न जाने दिवस तिन्ह गए मास षट बीत।'* (१५), *'मंगल मोद उछाह नित जाहिं दिवस एहि भाँति।'* (१। ३५९) सब ब्रह्मानन्दसुखको प्राप्त हैं, नित्य ही मङ्गलमोद हो रहा है।

दो०—अवधपुरी बासीन्ह† कर सुख संपदा समाज।
सहस सेष नहिं कहि सकहिं जहँ नृप राम बिराज॥ २६॥

अर्थ—जहाँ श्रीरामचन्द्रजी राजा होकर विराजमान हैं उस अवधपुरीमें रहनेवालोंका सुख, सम्पत्ति और समाज हजारों शेष नहीं कह सकते॥ २६॥

टिप्पणी—१ *'अवधपुरी बासीन्ह कर'* का भाव कि रामराज्यमें जगन्मात्रके निवासियोंका सुख-सम्पत्ति आदि कोई कह ही नहीं सकता तब अवधवासियोंका सुख इत्यादि कौन वर्णन कर सकता है जहाँ राजा राम साक्षात् विराजमान हैं। *'जहँ नृप राम बिराज'* का भाव कि जहाँ और राजा प्रजाको पुत्र-समान पालन करते हैं वहाँ रामजी राजा होकर प्रजाका पालन करते हैं तब उनके सुखसम्पदा समाजको शेषादि कैसे

* 'सबके गृह होहिं बेद पुराना'—(का०)

† 'बासीन्ह'—रा० गु० द्वि०, १८४२। 'बासिन्ह'—भा० दा०, १८१७, १८१८ का०, वं० पा०। उत्तरार्धमें २४ मात्राएँ हैं। 'बासिन्ह' पाठसे पूर्वार्धमें २३ ही मात्राएँ रह जाती हैं। इसलिये 'बासीन्ह' पाठ उत्तम मालूम होता है।

कह सकें? २ *'सहस सेष नहिं कहि सकहिं'* का भाव कि जगत्‌वासियोंका सुख आदि शेष नहीं कह सकते, यथा—*'राम राज कर सुख संपदा। बरनि न सकै फनीस सारदा॥'* और अवधवासियोंका सुखादि सहस्र शेष नहीं कह सकते। मिलान कीजिये—*'सोभा दसरथ भवन कै को कबि बरनइ पार। जहाँ सकल सुरसीसमनि राम लीन्ह अवतार॥'* (बा० २९७), *'बसइ नगर जेहि लच्छि करि कपट नारि बर बेषु। तेहि पुर कै सोभा कहत सकुचहिं सारद सेषु॥'* (बा० २८९), *'जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये॥'* (उ० २८)

'कोटिन्ह बाजिमेध प्रभु कीन्हे' से यहाँतक श्रीरामजीसहित सबकी दिनचर्या कही।

* नगरका वर्णन *

नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ १॥
दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥ २॥
जातरूप मनि रचित अटारी। नाना रंग रुचिर गच ढारी॥ ३॥

अर्थ—नारदादि सनकादि सब बड़े-बड़े मुनि कोसलराज श्रीरामजीके दर्शनोंके लिये प्रत्येक दिन अयोध्या आते हैं और नगर देखकर वैराग्य भुला देते हैं॥ १-२॥ अटारियाँ स्वर्ण और मणिसे रचकर बनी हुई हैं। अनेक रङ्गोंकी सुन्दर चमकदार गच सोने और मणिसे ढली हुई बनी हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१—*'नारदादि सनकादि मुनीसा……'* इति। प्रथम नारद-सनकादि बड़े-बड़े मुनियोंके नाम लिखे और बड़ाई दर्शित करनेके निमित्त *'मुनीस'* विशेषण दिया। तथा श्रीरामचन्द्रजीकी बड़ाई दरसानेके लिये *'कोसलाधीस'* कहा। कोसलाधीशका ध्यान दुर्लभ है सो यहाँपर प्रत्यक्ष हैं। नगरका दर्शन करते हैं तब वहाँके राजा रामजीका दर्शन करने क्यों न आवें? (खर्रा—सनकादिसे चारों भाई श्रीसनक, सनातन, सनन्दन और सनत्कुमार अभिप्रेत होते हैं; इसीसे *'नारदादि'* कहा, जिससे नारद-समान बड़े-बड़े ऋषियों-मुनियोंका भी आना सूचित कर दिया। अथवा नारदादिसे मन्त्रज्ञ और सनकादिसे तत्त्वज्ञ मुनीश्वरोंको कहा।)

२ (क) *'देखि नगर बिराग बिसरावहिं'* अर्थात् अभी नगरमें पहुँचे नहीं हैं, जहाँसे नगर देख पड़ा वहींसे वैराग्य भुला दिया। तात्पर्य कि इच्छा करने लगते हैं कि हम अयोध्याजीके गृहस्थ होते तो अच्छा था, कन्दरामें रहनेसे क्या होगा? अयोध्यासे वैराग्य था इसीसे वैराग्य 'बिसराना' कहा। अब सोचते हैं कि भगवान्‌के नाम-रूप-लीला-धामकी प्राप्ति चाहिये सो यहाँ सब प्राप्त हैं तब इससे वैराग्यका क्या प्रयोजन है? अथवा, (ख)—आते तो रघुनाथजीके दर्शन निमित्त हैं परन्तु नगरकी ही रचना देखकर वैराग्य भुला देते हैं। (ग) नगर देखकर *'बिराग बिसराने'* का भाव कि वैराग्य नगरकी रचना देखनेका बाधक है। वैरागी रचना नहीं देखते। उन्हें नगर-रचना आदि देखना वर्जित किया गया है। इसीसे रचना देखनेके निमित्त वैराग्य 'बिसरा' देते हैं। (रा० प्र०—*'नगर देखि'* अर्थात् नगरवासियोंका रामजीमें राग देखकर)

पं० रा० व० श०—*'बिराग बिसरावहिं'* इति। इन्द्रियका विषयमें लगना राग है। जगत्‌के पदार्थसे वैराग्य है। पर भगवान्‌के नाम, रूप, लीला, धाम ये चारों तो एक ही हैं, सब नित्य हैं, सच्चिदानन्दविग्रह हैं तो कहीं ब्रह्मसे वैराग्य थोड़े ही करना होता है?

वि० त्रि०—यहाँ अवधपुरीका वर्णन हो रहा है, नारदादि-सनकादिका वर्णन नहीं है। नारदादि-सनकादि ब्रह्मलोक तथा वैकुण्ठमें विचरण करनेवाले हैं, वहाँके ऐश्वर्य-दर्शनपर भी जो वैराग्य अक्षुण्ण रहा वह अवधका ऐश्वर्य देखनेसे उस कालके लिये लापता हो जाता था, यथा—*'महि बहु रंग रुचिर गच काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मन नाचा॥'* नगरकी सुन्दरता ऐसी मनोहारिणी है कि परम वैराग्यवालोंके चित्तको अपहरण कर लेती है।

☞ इस प्रसङ्गपर गीतावलीमें बड़ा सुन्दर वर्णन है, यथा—*'देखत अवध को आनंद। बरषत सुमन निसि दिन देवतनि को बृंद। नगर रचना सिखन को बिधि तकत बहुबिधि बंद। निपट लागत अगम ज्यों जलचरहिं गमन सुछंद॥ मुदित पुरलोगन सराहत निरखि सुखमाकंद। जिनके सुअलि चष पियत राम मुखारबिंद मकरंद॥ मध्य ब्योम बिलंब चलत दिन दिनेस उडुगन चंद। रामपुरी बिलोकि तुलसी मिटत सब दुखद्वंद।'* (७। २३)

टिप्पणी—३ *'जात रूप मनि रचित अटारी।.........'* इति। (क) पहले अटारी वर्णन करनेका भाव कि मुनियोंको प्रथम अटारी दिखायी पड़ी। कुछ दूर चलनेपर कोट मिला तब कोटका वर्णन करते हैं, फिर कोट लाँघनेपर कोटके भीतरकी पृथिवीका वर्णन करते हैं। (ख) जातरूप और मणिरचित कहकर अटारियोंका इन वस्तुओंसे शोभित होना कहा और *'रचित'* कहकर उनके बनावकी शोभा कही। (ग) सुवर्ण लिखकर मणि लिखनेका भाव कि पहले सोनेका काम करके सोनेमें मणियोंका जड़ाव किया है। (घ) [खर्रा—गजमुक्ताचूर्ण और काँच दोनोंसे बनायी गयी है इसीसे यहाँ मणिरचित कहा और आगे। *'महि बहु रंग रचित गच काँचा'* कहते हैं।]

पुर चहुँ पास कोटि अति सुंदर। रचे कँगूरा रंग रंग बर॥ ४॥
नवग्रह निकर अनीक बनाई। जनु घेरी अमरावति आई॥ ५॥
महि बहु रंग रचित गच काँचा। जो बिलोकि मुनिबर मन नाँचा*॥ ६॥

अर्थ—नगरके चारों ओर अत्यन्त सुन्दर कोट (घेरा, शहरपनाह) है (जिसपर) रङ्ग-विरङ्गके सुन्दर कँगूरे रचकर बनाये गये हैं॥ ४॥ (अब इन्हीं विचित्र कँगूरोंकी उत्प्रेक्षा करते हैं कि ऐसा मालूम होता है) मानो नवग्रहोंने बड़ी भारी सेना बनाकर अमरावतीको आकर घेरा हो†॥ ५॥ पृथिवी बहुत रङ्गके काँच (शीशा) की गचसे सँवारकर बनायी हुई है, जिसे देखकर श्रेष्ठ-श्रेष्ठ मुनियोंका मन नाचने लगता है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'नवग्रह निकर अनीक बनाई।.........'* इति। (क) यहाँ अयोध्यापुरीके घेरेकी उपमा इन्द्रपुरीकी दी है। अयोध्यापुरीकी उपमा नहीं दी गयी, क्योंकि इन्द्रपुरी इसकी उपमाके योग्य नहीं है। घेरेकी उपमाके योग्य समझकर उसकी उपमा दी। (ख) कोटपरके अनेक रङ्गके कँगूरे अनेक रङ्गके नवग्रह हैं। वीर लोग अनेक बाने धारण करते हैं, यथा—*'अति बिचित्र बाहिनी बिराजी। बीर बसंत सेनु जनु साजी॥'* (६। ७८। ५) इसीसे अमरावतीके वीरोंको अनेक रङ्गका कहा। (ग) 'कोटमें जो अनेक देवताओंके चित्र बने हैं वे ही मानो देवता हैं, इसीसे कोटको अमरावतीकी उपमा दी गयी। इस प्रकार पुरीका कोट और इन्द्रपुरी अमरावती, कोटके कँगूरे और नवग्रह परस्पर उपमेय-उपमान हैं। (घ) नवग्रह शुभाशुभ फलोंके दाता हैं। कोट राजाका है, उसके यहाँसे मनुष्योंको शुभाशुभ फल मिलता है। २ *'मुनिबर मन नाँचा'* इति। मुनिवरोंके मनके नाचनेका भाव कि जहाँ पृथिवीकी रचनाका कोई विशेष प्रयोजन नहीं है वहाँ भी अद्भुत रचना देख पड़ती है, अत: मन परम प्रसन्न हो जाता है।

---

* १ राँचा—(का०)। 'नाच' के लिये चिकनी समथर जमीन चाहिये। गचकी शोभा देखकर उसके सौन्दर्यपर मुनियोंका मन हर्षसे नाच उठता है, उछल पड़ता है। इसीलिये यहाँ 'राँचा' के बदले 'नाँचा' पाठ अधिक सुन्दर भी है। गचके साथ उसकी योजना बहुत सुसङ्गत है। 'नाँचा' पाठ अनेक पुरानी प्रतियोंमें मिलता है।

२ वै०—'मन नाँचा' अर्थात् चंचल हो जाता है। भाव कि यही सम्भावना होती है कि सब जल भरा है, पैर नहीं धर सकते। सर्वज्ञ मुनियोंकी यह दशा है तब औरोंकी क्या कही जा सके। ३ रा० प्र०—कोई 'गचकाँचा' का अर्थ 'मीना-मोतीका चूना' कहते हैं। ४—गच=पक्का फर्श बनानेका मसाला जैसे चूना, सुरखी।

† १ विनायकीटीकाकार लिखते हैं कि 'नगरके परकोटेके भीतर चारों ओरसे नवीन घर अर्थात् गजशाला, घुड़शाला, योद्धाओंके गृह और सेनापतियोंके महल बने हुए थे जिनके चारों ओर सुसज्जित सेना तैयार रहती थी। इस प्रकारसे सम्पूर्ण अयोध्यापुरी भारी सेनासे घिरी रहती थी। उसके बारेमें कविजी उत्प्रेक्षा करते हैं कि मानो इन्द्रपुरीको श्रीरामचन्द्रजीकी पलटन पकड़कर लिवा लायी हो और अयोध्यापुरीके नामसे बसा दी हो।'—[पर कविका ऐसा आशय शब्दोंसे नहीं जान पड़ता, इससे तो अयोध्यापुरीकी न्यूनता होती है। यह भाव बैजनाथजीकी टीकासे लिया हुआ स्पष्ट देख पड़ता है। केवल भेद इतना है कि वहाँ 'अयोध्यापुरीके नामसे बसा दी हो' की जगह उसमें यह लिखा है कि—'इन्द्रपुरी पकड़ आयी है, उसको यह सेना 'रखावती' है अर्थात् इन्द्रपुरीको अपनी शोभाका कुछ मान था इससे अयोध्यापुरीने उसे पकड़कर मँगाकर हवालातमें रखा है। भाव कि इन्द्रपुरीतुल्य सेनादिके रहनेके मन्दिर हैं और पुरके मन्दिरोंकी तो उपमा ही नहीं है']

२—किसीने अर्थ किया है—'अमरावतीने नवग्रहोंकी भारी सेना बनाकर अयोध्यापुरीको आ घेरा है कि इसे जीतकर हम इससे श्रेष्ठ हो जायँ।'

धवल धाम ऊपर नभ चुंबत। कलस मनहु रबि ससि दुति निंदत॥ ७॥
बहु मनि रचित झरोखा भ्राजहिं। गृह गृह प्रति मनि-दीप बिराजहिं॥ ८॥

अर्थ—उज्ज्वल धाम ऊपर आकाशको चूम रहे हैं अर्थात् बहुत ऊँचे हैं। (महलपरके) कलश (अपनी उज्ज्वलतासे मानो सूर्य और चन्द्रमाकी द्युति (चमक) की निन्दा करते हैं (भाव कि उनसे अधिक उज्ज्वल हैं)॥ ७॥ महलोंमें बहुत-सी मणियोंसे रचे हुए झरोखे प्रकाशित हैं। प्रत्येक घरमें मणियोंके दीपक शोभित हो रहे हैं॥ ८॥

रा० शं० श०—'*नभ चुंबत*'—ये इतने ऊँचे थे कि प्रयागसे दिखायी देते थे।

वै०—'*रबि ससि दुति निंदत॥*' भाव कि आकाशमें एक ही सूर्य है वह भी तापकारक है और कलशके प्रत्येक मणिमें अनेक सूर्य देख पड़ते हैं तो तापरहित हैं। इसी तरह आकाशमें एक चन्द्रमा है जो विरहिनियों आदिको दुःखदायी है और कलशके प्रत्येक मणिमें चन्द्रमा देख पड़ते हैं जो सुखद हैं।

टिप्पणी—१ '*कलस मनहु रबि ससि दुति निंदत*', इसमें उत्प्रेक्षा और चतुर्थ प्रदीप अलङ्कार है। २—'*गृह गृह प्रति मनिदीप बिराजहिं*' कहकर सूचित किया कि दिनकी शोभा वर्णन करके अब रात्रिकी शोभा बखान करते हैं, क्योंकि दीपककी शोभा रात्रिमें ही होती है। ३—झरोखे और मणिदीपको समीप वर्णन करनेसे सूचित करते हैं कि उन झरोखोंमें मणिदीप रखे हुए हैं। [झरोखे (=झँझरियाँ) इसलिये होते हैं कि बाहरका पवन भीतर जाय और भीतरका बाहर आवे]।

वै०—झरोखा मणिरचित हैं। इन मणियोंसहित मणिदीपका प्रकाश झरोखोंसे बाहर फैल रहा है।

छंद—मनि दीप राजहिं भवन भ्राजहिं देहरी बिद्रुम रची।
मनिखंभ भीति बिरंचि बिरची कनकमनि मरकत खची॥
सुंदर मनोहर मंदिरायत अजिर रुचिर फटिक रचे।
प्रति द्वार द्वार कपाट पुरट बनाइ बहु बज्रन्हि* खचे॥

दो०—चारु चित्रसाला गृह गृह प्रति लिखे बनाइ†।
रामचरित जे निरखि‡ मुनि ते मन लेहिं चोराइ॥ २७॥

शब्दार्थ—राजहिं—राजना=शोभित होना, सोहना, विराजमान होना। **भ्राजना**=शोभा पाना, शोभायमान होना—'*उर आयत भ्राजत बिबिध बाल बिभूषन चीर।*' **बिद्रुम**=मूँगा। **मरकत**=पन्ना, पिरोजेकी जातिका हरे रङ्गका एक रत्न जो प्रायः स्लेट और ग्रेनाइटकी खानोंसे निकलता है, नीलमणि। '**स्फटिकमणि**'=एक प्रकारका सफेद बहुमूल्य पत्थर या रत्न जो काँचके समान पारदर्शी होता है, इसके कई भेद और रङ्ग होते हैं। **पुरट**=सोना। **बज्र**=हीरा—यह रत्न या बहुमूल्य पत्थर अपनी चमक-दमक और अत्यन्त कठोरताके लिये प्रसिद्ध है। अधिकतर यह सफेद ही होता है पर रत्न-परीक्षाकी पुस्तकोंमें हीरेकी पाँच छायाएँ कही गयी हैं—लाल, पीली, काली, हरी और श्वेत। इसके पाँच गुण कहे गये हैं—अठपहल, छकोना होना, लघु, उज्ज्वल और नुकीला होना।

अर्थ—महलोंमें मणियोंके दीपक शोभित हो रहे हैं, महल (दीपकोंसे) शोभित हैं और देहरियाँ मूँगोंसे रची हुई प्रकाशित हैं। मणियोंके खम्भे हैं। दीवारें नीलमणियोंसे जड़ी हुई सोनेकी (ऐसी सुन्दर हैं मानो) ब्रह्माने विशेष सँवारकर बनायी हैं। मन्दिर (घर) सुन्दर, मन हरण करनेवाले और विस्तृत (लम्बे-चौड़े) हैं। आँगन सुन्दर स्फटिक मणिके बने हैं। प्रत्येक दरवाजेमें बहुत-से एवं अनेक प्रकारके हीरोंसे अच्छी तरहसे जड़े हुए सोनेके किंवाड़े लगे हैं। घर-घर सुन्दर चित्रशालाएँ हैं। जिनमें भली प्रकार सँवारकर श्रीरामजीके चरित लिखे हैं। जो मुनि देखते हैं उनके मनको ये चरित-चित्र चुरा लेते हैं (अर्थात् वे साक्षात्-से जान पड़ते हैं, चितेरेके बनाये हुए नहीं लगते अतः) मन मुग्ध हो जाता है॥ २७॥

* वज्रहिं। † 'गृह प्रतिरचि लिषे बनाइ'। ‡ निरषत मुनिमन—(का०)

नोट—*'देहरी बिद्रुम रची·········'* इति—मिलान कीजिये—**'विद्रुमोदुम्बरद्वारैर्वैदूर्यस्तम्भपंक्तिभि:। स्थलैर्मारकतैः स्वच्छैर्भातं स्फटिकभित्तिभि:॥ चित्रस्रग्भि: पट्टिकाभिर्वासोमणिगणांशुकै:।'** (९। ११। ३२-३३) अर्थात् दरवाजोंमें मूँगेकी देहलियाँ, वैदूर्यमणिके खम्भोंकी पंक्ति, मरकतमणिके धरातल और उज्ज्वल स्फटिकमणिकी दीवारें, चित्रमाला, पट्टिका, वस्त्र, मणिसमूहकी किरणें।'

पं० रा० व० श०—*'बिरंचि बिरची'* कहकर अतिशय और अलौकिक सौन्दर्य जनाया। वस्तुतः यह ब्रह्माकी रची नहीं है। अवतारके समय नित्यधामका पूर्णाविर्भाव होता है। (श्रीजाम्बवान्‌के *'निज इच्छा प्रभु अवतरइ सुर महि गो द्विज लागि। सगुन उपासक संग तहँ रहहिं मोच्छ सब त्यागि।'* (४। २६) इन वचनोंसे भी यही बात सिद्ध होती है)।

टिप्पणी—१ *'बिरंचि बिरची'* में गम्योत्प्रेक्षा है।—[खर्रा—अर्थ यह है कि ब्रह्माने बीच-बीचमें दूसरे रङ्गकी मणि, कनक, पन्नासे भीति रची है।] २—*'रामचरित जे निरखि मुनि·········'* इति। भाव कि चित्रमें अनेक चरित एकत्र देख पड़ते हैं जो प्रत्यक्षका सुख देते हैं; इसीसे मुनियोंके मन चुरा जाते हैं। यहाँ केवल मुनिमनका चुराना लिखते हैं। कारण कि इस प्रसङ्गभरमें केवल मुनियोंका नगर-दर्शन करना लिखा है—*'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥·········'*, इसीसे केवल मुनियोंके मनका मोहित होना लिखा है।—(☞ *'देखि नगर बिराग बिसरावहिं'* का वहाँ उपक्रम है और यहाँ उपसंहार।)

सुमन बाटिका सबहि लगाई। बिबिध भाँति करि जतन बनाई॥ १॥
लता ललित बहु जाति सुहाई। फूलहिं सदा बसंत की नाँई॥ २॥
गुंजत मधुकर मुखर मनोहर। मारुत त्रिबिधि सदा बह सुंदर॥ ३॥
नाना खग बालकन्हि जिआए। बोलत मधुर उड़ात सुहाए॥ ४॥

अर्थ—सभी लोगोंने विविध भाँतिके फूलोंकी वाटिकाएँ अनेक प्रकारसे यत्न करके बनाकर लगायी हैं॥ १॥ बहुत जातिकी ललित सुहावनी बेल सदा वसन्तकी तरह फूला करती हैं॥ २॥ भ्रमर मनहरण शब्द गुञ्जार रहे हैं। तीनों प्रकारकी सुन्दर वायु सदा चलती है॥ ३॥ बालकोंने अनेक पक्षी पाले हैं जो मधुर शब्द बोलते हैं और उड़नेमें सुन्दर लगते हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'सुमन बाटिका सबहि लगाई'* क्योंकि सबके घरोंमें देवपूजन होता है। (ख) *'बिबिध भाँति करि जतन बनाई'* का भाव कि एक-एक पेड़में कई फूलोंके रङ्ग और कई फूलोंकी सुगन्ध कर दी है, ऐसे ही अनेक यत्न हैं।

रा० प्र०—यत्न अर्थात् रक्षा और वर्द्धनके उपाय जैसे कि बारी लगाना, आलबाल, सिञ्चनादि।

वै०—*'बिबिध भाँति करि जतन बनाई'* से यह भी जनाया कि वाटिकाओंमें मेंहदी, गड़हरि आदिकी टट्टियाँ, गेंदा, गुलाब, मोगरा, सेवती आदि गुल्म, बेला-चमेली, कुन्दी-नेवारी आदि लताओंके कुञ्ज, अनार बिही आदिके कुञ्ज, तथा अंगूरके टट्टर इत्यादि अनेक भाँतिके बड़े यत्नसे बनाये हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'लता ललित·········'* इति। सुमनवाटिकाका लगाना कहा। अतः फिर लताका वर्णन करते हैं। *'बहु जाति सुहाई'* कहकर जनाया कि वृक्षोंके अनुकूल सुन्दर नवीन पल्लवित विविध रंगके पुष्पोंवाली बेलें उनपर दौड़ाई हैं जो उनमें विशेष शोभित हों और वृक्षोंकी भी शोभा बढ़ावें। (ख) *'फूलहिं सदा बसंत की नाँई।'* यह भी विविध प्रकारके यत्नोंमेंसे एक यत्न है जिससे लताएँ सदैव वसन्त ऋतुकी तरह फूला करती और सुन्दर एवं ललित बनी रहती हैं। ३ (क) *'गुंजत मधुकर मुखर मनोहर'* इति। मनोहरसे यहाँ मधुर अर्थ अभिप्रेत है। मधुकरकी शोभा मधुर-गुञ्जारमें है, यथा—*'मधुप मधुर गुंजत छबि लहहीं।'* (ख) वाटिकामें फूलोंका वर्णन करके तब भ्रमरोंको कहा, क्योंकि 'मधुकर' फूलोंके मकरन्दका ग्रहण करनेवाला है। मधुपान करनेसे ही 'मधुकर' नाम है। [मधुकर और खगका साथ है पर यह केवल पुष्पवाटिका है इससे यहाँ केवल भौंरोंको कहा—(रा० शं०)] (ग) *'सदा बह सुंदर'* का भाव कि

रामराज्यमें 'सदा' चलती है नहीं तो शीतल, मन्द, सुगन्ध वायु सदा कभी नहीं चलती। सुन्दरसे सूचित किया कि सम्मुख चलती है।

नोट—*'नाना खग बालकन्हि जिआए।'* पक्षी पालनेका व्यसन प्राय: बालकोंको अधिक होता है। पालकर रामनाम रटाते हैं। *'जिआए'* से जनाया कि पक्षियोंके पैदा होते ही उनको पालकर जिलाया। यह नहीं कि बड़े होनेपर उन्हें पकड़ या पकड़वाकर रखा हो। बचपनसे पालन करनेसे दोनों ओर बड़ा प्रेम रहता है। बड़े होनेपर उड़ते हैं, पर कहीं चले नहीं जाते। बैजनाथजी लिखते है कि *'उड़ात सुहाए'* से जनाया कि 'गिरहबाज' गिरह खाते हैं, बहुत-से ऊँचे चढ़ जाते हैं, इत्यादि।

मोर हंस सारस पारावत। भवनन्हि* पर सोभा अति पावत॥ ५॥
जहँ तहँ देखहिं† निज परछाहीं। बहु बिधि कूजहिं नृत्य कराहीं॥ ६॥
सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जन पालक॥ ७॥
राजदुआर सकल बिधि चारू। बीथीं चौहट रुचिर बजारू॥ ८॥

अर्थ—मोर, हंस, सारस और कबूतर घरोंके ऊपर अत्यन्त शोभा पाते हैं (भाव कि मोर अपनी बोली और नृत्यसे, हंस और सारस बोलीसे और कबूतर उड़ानसे शोभाको प्राप्त होते हैं)॥ ५॥ पक्षी जहाँ-तहाँ (सब ओर मणियोंमें) अपना प्रतिबिम्ब देखकर (और प्रतिबिम्बको अपना सजातीय दूसरा पक्षी जानकर) बहुत प्रकार बोलते और नाचते हैं॥ ६॥ बालक तोता-मैनाओंको पढ़ाते हैं कि सब प्राणियों एवं निज दासोंके पालन करनेवाले रघुकुलके राजाका 'राम' नाम उच्चारण करो एवं *'कहहु राम रघुपति जन पालक'* ऐसा कहो॥ ७॥ राजद्वार सब प्रकार सुन्दर है। गलियाँ, चौराहे और बाजार सुन्दर दीप्तमान् हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ ऊपर पक्षियोंका बोलना और उड़ना कहा, अब इनमेंसे किसी-किसीके नाम लिखते हैं [*'भवनन्हि पर सोभा अति पावत'* से यह भी जनाया कि स्फटिक-मणिमय भवनपर बैठनेसे वे एकके दो दिखायी पड़ते हैं। बिम्ब और प्रतिबिम्ब दोनों असली जान पड़ते हैं। (वै०) *'उड़ात सुहाए' 'सोभा अति पावत॥'* उड़तेमें केवल *'सुहाए'* कहा क्योंकि उड़तेमें पूरी सुन्दरता नहीं देख पड़ती, और भवनोंपर *'अति सोभा'* पाना कहा क्योंकि बैठेमें पूरी शोभा देखनेमें आती है। वा, प्रतिबिम्ब मणियोंमें देख पड़ता है इससे अधिक शोभा पाना कहा। (रा० शं० श०)]

२ (क) *'सुक सारिका पढ़ावहिं बालक'* इति। भाव कि जो बड़े हैं वे तो कथा-पुराण रामचरित पढ़ते या सुनते हैं जैसा पूर्व कह आये, रहे बालक सो तोता-मैनाको राम-राम पढ़ाते हैं। ☞शुकसारिकाको छोड़ अन्य पक्षी वर्णात्मक वाणी नहीं बोलते, इसीसे इन्हींको पढ़ाते हैं। (ख) *'कहहु राम रघुपति जन पालक'* अर्थात् कहते हैं कि राम कहो। कौन राम? निर्गुण राम नहीं, वरन् *'राम'* जो रघुवंशके रक्षक हैं और केवल रघुकुलके ही पति नहीं हैं किन्तु दासोंके भी पालनकर्त्ता हैं। पुन: भाव कि *राम'* कहकर निर्गुण ब्रह्म जनाया, रघुपति कहकर जनाया कि वह निर्गुण ब्रह्म रघुवंशमें अवतीर्ण हुए और *'जन पालक'* कहकर बताया कि अवतार लेकर उन्होंने दुष्टोंको मारकर अपने जनोंका पालन किया—इस प्रकार पक्षियोंको रामायण पढ़ाते हैं। [पुन: राम अर्थात् जो सबमें रमण किये हैं और सारा जगत् जिनमें रमण किये हुए है, जो सर्वव्यापक हैं। *'रघुपति'* अर्थात् वे ही रघुकुलके राजा और जगत्‌के जीवमात्र (रघु=जीव) के स्वामी हैं। *'जनपालक'* अर्थात् भक्तोंका विशेष पालन करते हैं, यथा—*'जगपालक बिसेषि जनत्राता'* इस प्रकार रामसे ऐश्वर्य, रघुपतिसे माधुर्य और जनपालकसे ऐश्वर्य और माधुर्य दोनों दिखाये। इस कथनसे बालकोंका स्वाभाविक प्रेम दिखाते हैं। नहीं तो अभी उनको ज्ञान कहाँ?]

३ *'रामदुआर सकल बिधि चारू'* इति। ☞नारदादि सनकादि मुनीश्वर नगर देखते-देखते आकर

* भवननि—भा० दा०। भवनन्हि—(का०)। † निर्षहिं—(का०)।

राजद्वारके समीप पहुँचे और इसे देखने लगे, तब इसका वर्णन किया। '.........*सकल बिधि चारू*' का भाव कि '*जो संपदा नीच गृह सोहा। सो बिलोकि सुरनायक मोहा॥*' तब भला इसका क्या कहना? (रा० प्र०) (यह तो खास राजद्वार ही है। यथा—'*सोभा दसरथ भवन की को कबि बरनै पार।*' (१। २९७) '*अति अनूप जहँ जनक निवासू*' इत्यादि)]।

छंद—बाजार रुचिर* न बनै बरनत बस्तु बिनु गथ पाइये।
जहँ भूप रमानिवास तहँ की संपदा किमि गाइये॥
बैठे बजाज सराफ बनिक अनेक मनहुँ कुबेर ते।
तब सुखी सब सच्चरित सुंदर नारि नर सिसु जरठ जे॥
दो०—उत्तर दिसि सरजू बह निर्मल जल गंभीर।
बाँधे घाट मनोहर स्वल्प पंक नहिं तीर॥२८॥

अर्थ—बाजार सुन्दर है, वर्णन करते नहीं बनता, वस्तु बिना मूल्य मिलती है। जहाँ श्रीरमापति राजा हैं वहाँकी सम्पत्ति कैसे कही जा सकती है? अनेक बजाज (कपड़ा बेचनेवाले), सराफ (सोने-चाँदी-मणि इत्यादिका व्यापार करनेवाले), बनिये (अन्न आदिका व्यापार करनेवाले) बैठे ऐसे जान पड़ते हैं मानो वे कुबेर (समस्त धनके देवता) ही हैं। स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े जो भी हैं वे सब सुखी हैं, सब अच्छी चाल चलनेवाले हैं और सब सुन्दर हैं। नगरकी उत्तर दिशामें श्रीसरयूजी बह रही हैं, उनका जल निर्मल और गम्भीर (गहरा) है। सुन्दर घाट बने हैं, किनारेपर जरा-सी भी कीचड़ नहीं है॥ २८॥

टिप्पणी—१ '*बस्तु बिनु गथ पाइये*' यह भी बाजारकी शोभा है। तात्पर्य कि लेनेवाले और देनेवाले दोनों ही ईमानदार हैं। देनेवाला बिना दाम देता है और लेनेवाला बिना माँगे दाम दे देता है। २—'***मनहु कुबेर ते***' इति। भाव कि यद्यपि कुबेरके समान हैं तथापि अपने-अपने धर्ममें आरूढ़ हैं अर्थात् अपना धर्म (कुलका व्यापार) करते हैं। कुबेरके समान हैं इसीसे बिना दाम लिये अर्थात् उधार वस्तु देते हैं। कुबेरके समान वस्तु लेकर बैठे हैं, इससे सूचित करते हैं कि कुबेरके समान सबको वस्तु दे रहे हैं।

वि० त्रि०—सीधा-सा अर्थ है कि बिना दामकी वस्तुएँ बाजारमें मिलती थीं। यह बात असम्भव नहीं है। कुछ दिन हुए मैं बदरीविशालकी यात्रामें गया था। उस रास्तेमें एक दूकानदार ऐसा मिला जो कि द्रव्यहीन यात्रीको बिना दामके चावल-दाल आदि देता था। मैं नगरका रहनेवाला उसके व्रतको देखकर अवाक् रह गया था, पर बात ऐसी थी कि इतनी दूरकी यात्रा करनेवाले धर्मात्मा यात्री बिना दाम दिये लेना नहीं चाहते थे। कोई गरीब लाचार दाम नहीं दे सकता था, उसे वह मुफ्त देता था। इस भाँति भगवान् उसका व्रत निबाहते थे। रामराज्यमें कोई बिना दाम दिये लेना नहीं चाहता था, सभी सम्पन्न थे, पर यदि लेना चाहे, तो उसे बिना दाम दिये मिलती। ऐसी बातें धर्मराज्यमें ही सम्भव हैं।

पं० रा० कु०—'***सब सुखी***.........' इति। भाव कि कुबेरके समान धनी हैं और आरोग्य भी हैं क्योंकि सब सदाचरणवाले हैं।

करु०—रमानिवास=लक्ष्मीनिवास अर्थात् जो सब ब्रह्माण्डोंकी श्रीके निवासस्थान अर्थात् स्वामी हैं। इससे त्रिपाद्‌विभूतियुक्त जनाया।

रा० शं० १—राजद्वारके बाद चौकके वर्णनसे बाजारका चौकमें होना प्रतीत होता है। २—सम्पदाका उल्लेख पूर्व भी आ चुका है पर वह नगरके सम्बन्धमें था और यह सम्पदा केवल बाजारकी है। पुनः पूर्व सम्पदाके साथ सुख और समाज भी कहा था क्योंकि घरोंमें सम्पदाके साथ सुख और उसकी सब सामग्री भी रहती है और बाजारमें सम्पदा ही प्रधान है। ३—'*बजाज सराफ*' कहकर '*बनिक*' पद

* चारु—(का०)।

दिया, इससे सूचित हुआ कि सब बेचनेवालोंकी वणिक् संज्ञा है, यथा—'*साक बनिक मनि गुनगन जैसे।*' —(रा० प्र०—जो बयाई लेवे वह बनिया)

'बाजार बस्तु बिनु गथ' पाइये.........'

वि० टी०—'*बस्तु बिनु गथ पाइये*' का भाव यह है कि सब दूकानदार सत्यवादी और एकवचनी थे, इस हेतु वस्तुओंका मोल-भाव न करना पड़ता था। कोई-कोई इसका ऐसा भी अर्थ करते हैं कि लोग बाजारसे बिना दाम चुकाये ही वस्तुएँ ले जा सकते थे क्योंकि न बेचनेवालेको दाम पानेमें सन्देह रहता था और न दाम देनेवालेको दाम देनेमें विलम्ब होता था। अतएव तकाजा करनेकी आवश्यकता ही न थी; परन्तु आजकलका बर्ताव और ही ढङ्गका हो रहा है, यहाँतक कि लिखे हुए कागजको भी झूठा ठहरानेमें लोग आगा-पीछा नहीं करते।

वै०—बिना मोल पानेका हेतु यह है कि ग्राहक कोई कङ्गाल नहीं है, अधर्मी नहीं है कि परायी वस्तु लेकर दाम न दे और बेचनेवाले भी उदार हैं, परोपकारी हैं उनको यह चिन्ता नहीं कि दाम मिले ही, दूसरेका काम बने यही चित्तमें रहता है। दाम माँगते नहीं और दिया तो ले लिया।

पं० रा० व० श०—१ इसमें शङ्का होती है कि बिना मोल-मुनाफा देते हैं तो खायेंगे कहाँसे? इसके निवारणार्थ कहते हैं कि '*रमानाथ जहँ राजा*' वहाँ किसीको कभी कमी कहाँ और कैसी? २—सुख पानेसे प्रमादका भय है अतः कहा कि यहाँ ऐसा नहीं है, सब सच्चरित हैं।

नोट—गथ सिक्केको या दाम और कीमतको कहते हैं। बाजार बड़ा सुन्दर है अर्थात् खूब सजा हुआ है, इस तरहकी चीजें आसानीसे मिल सकती हैं। खूबी यह है कि बिना दामके मिलती हैं, न दूकानदार दाम माँगता है और न ग्राहक देता है। परन्तु यह आजकलके अर्थशास्त्रके युगमें बड़ी अद्भुत बात होगी। आधुनिक अर्थशास्त्र स्वार्थपर अवलम्बित है। इसीलिये उसे यह समझमें नहीं आता कि जब दूकानदारको मालके दाम न मिलेंगे तो वह दूकान किस लिये रखेगा। ग्राहकका स्वार्थ तो सध जाता है परन्तु दूकानदारको ही क्यों परमार्थका इतना उदार भाव मनमें जमा होना चाहिये? परन्तु इस प्रश्नको बहुत गम्भीर रीतिसे समझनेकी आवश्यकता है। दूकानदार भी तो ग्राहक होता है। कपड़ेके दूकानदारको अनाज और मसालोंकी जरूरत होती है, बरतन और जूतोंकी जरूरत होती है; वह यह सब चीजें बिना दामके ले आता है। कपड़े बनानेवालेसे दूकानपर रखनेके वास्ते उसे कपड़े भी तो बिना दामके मिलते हैं। जब वह स्वयं बेदामके पाता है तब वह दूसरेसे दाम क्यों लेने लगा? किसानको जो चीजें चाहिये वह दूकानदारोंसे ले लेता है और अपना गल्ला अपने खानेभरको रखकर व्यापारियोंको दे देता है। जब प्रत्येक मनुष्यको उसके जरूरतकी चीज उसके समयपर बिना दामके मिल जाती है तो न किसीको इस बातकी जरूरत है कि सिक्का या चाँदी-सोनेका सङ्ग्रह करे और न इस बातका लालच है कि वह किसीके धनका अपहरण धुननेवाला करे। इसपर यह प्रश्न हो सकता है कि कपड़ा बीननेवाला, सूत कातनेवाला और सीनेवाला कपड़े तैयार करनेकी मेहनत क्यों करे? उसे पैसे तो मिलनेवाले नहीं हैं, उसके परिश्रमका प्रवर्त्तक क्या होगा? जुलाहा सूत कातनेवालेके पास आता है और हर महीने जो दस सेर सूत लेने आता था वह लेने आया परन्तु पा न सका। दाम तो देने नहीं हैं, यह तो बड़ा गड़बड़ हुआ। कातनेवालेने अपना कर्तव्य पालन नहीं किया। क्या कातनेवालेको यह अधिकार है कि गल्लेवालेकी दूकानसे बिना मोलके गल्ला ले आवे? नहीं। रामराज्यकी सहज सुख सम्पदाका कर्तव्य विमुख हो जानेसे वह अधिकारी नहीं रह जाता, उसे तो अपना कर्तव्य पालन करना ही चाहिये। जैसे आजकल धन या पैसेकी आवश्यकता समाजके आर्थिक सञ्चालनका कारण बन रही है उसी तरह रामराज्यमें धर्मपरायणता या सच्चरित्रता उस समय समाजके आर्थिक संगठनका कारण थी। प्रत्येक मनुष्यको यह पूरा विश्वास था कि मैं कर्तव्यपरायण रहूँगा तो मेरी आवश्यकता बराबर पूरी होती रहेगी। इसीलिये कोई व्यर्थका परिग्रह नहीं करता था। जब हमें यह भय हो कि कल अमुक वस्तु न मिलेगी तो काम न होगा और मिलनेका निश्चय भी नहीं है तब हम कलके

लिये उस वस्तुका सङ्ग्रह कर लेते हैं। परन्तु जब स्थिति यह है कि मानो हमारा ही भण्डार बाजारमें भरा हुआ है तो अपने घरमें अलग कोठरीमें रखनेका प्रयास क्यों करेगा? इस प्रसङ्गमें यह बात भी ध्यानमें रखने योग्य है कि सभी अपने वर्णाश्रम धर्मके अनुवर्त्ती हैं, सबका चित्त धर्ममें प्रवृत्त है, पाप कहीं नहीं। इसलिये न तो कुबेरसदृश धनियों और कङ्गालोंका मुकाबिला है और न इस तरहका साम्यवाद ही है कि वर्णाश्रमका विवेक भी नष्ट हो जाय—**'स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।'** पाँचों उँगलियोंका-सा समाजमें तारतम्य है। ब्राह्मण, क्षत्रिय और शूद्रोंका कर्तव्य धन और सम्पत्तिका सङ्ग्रह नहीं है। यह कर्तव्य वैश्योंका है और वह भी चारों वर्णोंके कल्याणके लिये है। ब्राह्मण तपोधन है, क्षत्रिय रक्षा करता है, शूद्र सेवा करता है, वैश्य सबके पोषणका बन्दोबस्त करता है और सबको बिना दामके सम्पत्ति देता है। साथ ही बिना दामके शिक्षा, रक्षा और परिचर्या भी पाता है। समाजका सङ्गठन अपूर्व सहकारिताका सङ्गठन है। ऐसे अपूर्व बन्धुत्वके बीच पैसोंके नीच मोलभाव और लेन-देनकी आवश्यकता नहीं पड़ती। रामराज्य धर्मशास्त्रके परमार्थवादपर अवलम्बित था और आजकलकी दशा अर्थशास्त्रके स्वार्थवादपर अवलम्बित है। इस तरह *'बिनु गथ पाइये'* में समाजके अपूर्व परमार्थवादका बीज मौजूद है और व्यञ्जनासे यह प्रकट होता है कि रामराज्यमें आजकलके समाज सङ्गठनकी-सी दशा न थी। जान पड़ता है कि कर्तव्यपालनपर श्रीरामचन्द्रजीका बड़ा कठोर आदर्श बड़ा भारी प्रभाव डालता था और शासनकी ओरसे भी ऐसा कठोर प्रबन्ध था कि कोई प्राणी अपने कर्तव्यसे विमुख जीवन-यापन न करे। शम्बूककी कथाके प्रसङ्गमें लोग यह शङ्का करते हैं कि अपनी राजधानीसे बहुत दूर विन्ध्याचलकी गुफामें उलटे टँगकर हवा पीकर तपस्या करनेवाले शम्बूकको रामचन्द्रजीने प्राण-दण्ड क्यों दिया? इसका उत्तर रामायणोंमें केवल इतना ही है कि शूद्रको ऐसी उग्र तपस्याका कोई अधिकार न था परन्तु बारीकीसे देखा जाय तो यह स्पष्ट हो जाता है कि जिस समाजकी आर्थिक नींव कर्तव्य-परायणतापर पड़ी हो, उसके प्रत्येक व्यक्तिको कर्तव्य-परायण होना ही पड़ेगा। न होनेवाला समाजकी नींवको हिला देता है, उसको भारी-से-भारी दण्ड मिलना चाहिये—**'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः॥'** इसीलिये रामराज्यकी दृष्टिसे शम्बूकका वध उचित ही था। ऐसे राज्यमें और अर्थकी इस व्यवस्थामें कङ्गाल कहाँ मिल सकता है? दरिद्र किसको कह सकते हैं? इसीलिये तो *'रमानिवास'* भूपकी सम्पदा गायी नहीं जा सकती, जहाँ हर एक बनिया कुबेरके समान है और जहाँ स्त्री, पुरुष, बच्चे, बूढ़े सभी सुखी हैं और सभी ईमानदार, धर्मात्मा और सच्चरित हैं।

दूरि फराक रुचिर सो घाटा। जहँ जल पिअहिं बाजि गज ठाटा॥ १॥
पनिघट परम मनोहर नाना। तहाँ न पुरुष करहिं अस्नाना॥ २॥
राजघाट सब बिधि सुंदर बर। मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर॥ ३॥
तीर तीर देवन्ह के मंदिर। चहुँ दिसि तिन्ह* के उपबन सुंदर॥ ४॥

शब्दार्थ—**फराक (फराख फा०)**=लम्बा-चौड़ा, विस्तृत।=(फरक) अलग। **पनिघट (पनघट)**=पानी भरनेका घाट। ठाट=समूह, झुण्ड।

अर्थ—दूर, सबसे अलग और लम्बा-चौड़ा वह घाट है जहाँ घोड़े और हाथियोंके समूह जल पीते हैं॥ १॥ पानी भरनेवाले जनाने घाट बड़े ही सुन्दर और अनेक हैं, वहाँ पुरुष स्नान नहीं करते॥ २॥ राजघाट सब प्रकार सुन्दर और श्रेष्ठ है। वहाँ चारों वर्णोंके लोग स्नान करते हैं॥ ३॥ श्रीसरयूजीके तीर-तीर देवताओंके मन्दिर हैं जिनके चारों ओर सुन्दर उपवन हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *दूरि फराक* =लम्बे-चौड़े (जिसमें एक साथ बहुत-से हाथी-घोड़े जा सकें)। (ख) *'पनिघट परम मनोहर नाना'* से जनाया कि अनेक महल्लोंके अनेक घाट हैं। (ग) *'पुरुष न करहिं अस्नाना',*

* (जिन्ह—का०)

यह धर्मकी मर्यादा दिखायी। स्त्रियोंके स्नानके घाट लिखकर तब पुरुषोंके स्नानका घाट लिखते हैं। २—*'तीर तीर देवन्ह के मंदिर'* से जनाया कि अयोध्यावासी पञ्चदेवके उपासक हैं, पर इनसे श्रीसीतारामचरणानुराग ही माँगते हैं। यथा—*'करि मज्जन पूजहिं नर नारी। गनप गौरि तिपुरारि तमारी॥ रमारमन पद बंदि बहोरी। बिनवहिं अंजुलि अंचल जोरी॥'* (अ० २७३) मन्दिरोंके पास उपवन हैं जिनमें पूजाके निमित्त सुन्दर फूल-फल लगे हैं।—[घाटके पास मन्दिर हैं जिसमें स्नान करके मन्दिरमें जाकर प्रथम दर्शन-पूजन करें तब दूसरे काममें लगें। इस प्रसङ्गमें दिखाया कि राजाको केवल मनुष्योंका ही सुख अभिप्रेत न था वरन् पशुओंको भी सुख हो इसका भी वैसा ही खयाल रहता था।—*'खगमृगसुरतापसहितकारी।'* (अ० १४२) सब वर्णोंमें समान भाव था इसीसे राजघाटपर किसीको रोकटोक न थी]।

कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी। बसहिं ग्यानरत मुनि संन्यासी॥५॥
तीर तीर तुलसिका सुहाई। बृंद बृंद बहु मुनिन्ह लगाई॥६॥
पुरसोभा कछु बरनि न जाई। बाहेर नगर परम रुचिराई॥७॥
देखत पुरी अखिल अघ भागा। बन उपबन बापिका तड़ागा॥८॥

अर्थ—कहीं-कहीं नदीके किनारे उदासी, मुनि और संन्यासी वास करते हैं जो ज्ञानमें रत (लगे हुए) हैं॥ ५॥ सुन्दर तुलसीवृक्षके झुण्ड-के-झुण्ड बहुत-से मुनियोंने श्रीसरयूके तीर-तीर लगाये हैं॥ ६॥ (जहाँ) नगरके बाहरकी परम शोभा है (वहाँ) पुरकी शोभा कुछ कहते नहीं बनती॥ ७॥ श्रीअयोध्यापुरीके दर्शनसे समस्त पाप भाग जाते हैं। वन, उपवन, बावली और तालाब (पुरीमें शोभा दे रहे हैं)॥ ८॥

टिप्पणी—१—*'कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी'''''''* इति। (क)—उदासी आदि एकान्तवासी होते हैं इसीसे यहाँ कहीं-कहीं बसते हैं। (*'उदासी'* वह हैं जिन्हें जगत्‌के पदार्थोंकी न चाह है न उनसे वैर है; ये वेदान्त तथा स्वरूपके यत्न और मननमें लगे रहते हैं।) अथवा, समस्त अयोध्यामें रामोपासक बसते हैं, इसीसे यहाँ उदासी आदिका वास कहीं-कहींका लिखते हैं—(पां०) संन्यास आश्रमके चार भेद हैं—(१) कुटीचक, (२) बहूदक, (३) हंस और (४) परमहंस। यहाँ (१) उदासी, (२) ज्ञानरत, (३) मुनि और (४) संन्यासी कहकर क्रमशः चारोंको लक्षित करते हैं। इनमेंसे कुटीचक और बहूदक आजकल बहुत कम मिलते हैं। वैरागी समाज सम्भवतः हंस संन्यासी हैं, क्योंकि इनमें गृहस्थाश्रमका त्याग है, पर शिखा-यज्ञोपवीतका त्याग नहीं है, और ये गैरिक वसन भी धारण नहीं करते। केवल परमहंस शिखा-यज्ञोपवीतका त्याग करते हैं और गैरिक वसन धारण करते हैं, उन्हींको आजकल लोग संन्यासी कहते हैं। मोक्षदायिका सातों पुरियोंमें प्रथम होनेसे ये लोग भी यहाँ बसते थे, पर समाज बाँधकर नहीं, दूर-दूरपर कुटियाएँ बना रखी थीं, और संख्यामें भी थोड़े थे, इसलिये *'कहुँ कहुँ'* कहा। स्वयं गोस्वामीजी हंस वेषके संन्यासी (वैरागी) थे, यथा—*'करि हंस को बेष बड़ो सबसे तजि दे बकबायसकी करनी।'* (वि० त्रि०)] (ख) वेदमें कर्म, ज्ञान और उपासना तीन काण्ड हैं, यहाँ उन तीनोंके स्वरूप दिखाये हैं। *'मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर'* यह कर्म कहा; क्योंकि स्नान करना कर्म है। *'तीर तीर देवन्ह के मंदिर'* यह उपासना कही; क्योंकि देवाराधन उपासना है। और *'कहुँ कहुँ सरिता तीर उदासी'* यह ज्ञानका स्वरूप है।

२—*'तीर तीर तुलसिका सुहाई।'''''''* इति। प्रथम उदासी, मुनि (ज्ञानी) और संन्यासीका वास कहा। इनमेंसे मुनियोंका तुलसिकावृन्द लगाना कहते हैं औरोंका नहीं, क्योंकि मुनिलोग भगवान्‌की पूजा करते हैं, तुलसी उनके प्रयोजनकी वस्तु है। उदासी और संन्यासी केवल ज्ञानरत रहते हैं इसीसे उनका लगाना न कहा; तुलसी इनके प्रयोजनकी वस्तु नहीं है।

३—*'पुर सोभा कछु बरनि न जाई'* कहकर नगर-शोभा-वर्णनकी इति लगाते हैं और अब नगरके बाहरकी शोभा कहते हैं। *'सुहाई'* से जनाया कि लघुमञ्जरी युक्त श्याम वा हरित ललित दल सघन शोभा दे रहे हैं, ऐसे ही दल भगवान्‌को चढ़ानेका विधान है।

☞ *'कहुँ-कहुँ' 'तीर तीर' 'बृंद बृंद'* का रुचिरताके लिये दो-दो बार आना 'पुनरुक्ति प्रकाश' अलङ्कार है।

४—*'देखत पुरी अखिल अघ भागा'* इति। (क) *'बाहेर नगर परम रुचिराई'* यह लिखकर तब पुरीदर्शनका फल लिखनेका भाव कि अयोध्यानगर देखनेमें परम सुन्दर है और उसके दर्शनसे सम्पूर्ण पाप दूर हो जाते हैं। अखिल अघसे मन, कर्म और वचन तीनोंके पाप, महापातक और उपपातक सभीका भाग जाना जनाया। [यथायोध्यामाहात्म्ये—**'सर्वोपपातकैर्युक्तैर्ब्रह्महत्यादिपातकैः। न योध्या सर्वतो यस्मात्तामयोध्यां ततो विदुः॥'** पुनः यथा—**'पापकोटिसमायुक्तश्चैत्रे नावमिके तिथौ। पापकोटिं नरस्त्यक्त्वा जन्मभूमेः प्रदर्शनात्।** सत्योपाख्यान (वै) (ख) जब परम सुन्दर कहा तब उसको नगर कहा क्योंकि नगरकी सुन्दरता कही और सराही जाती है और जब पापक्षय होना कहा तब उसको पुरी कहा क्योंकि पुरी तीर्थवाचक है, तीर्थके दर्शनहीसे पापका नाश होता है। यथा—*'कपिन्ह देखावत नगर मनोहर'* एवं *'पावन पुरी रुचिर यह देसा'* (दो० ४। १, २) वहाँ भी जब नगर कहा तब मनोहर कहा है। पुनः यथा—*'पहुँचे दूत राम पुर पावन। हरषे नगर बिलोकि सुहावन॥'* (१। २९०। १)

५—पुरीका वर्णन करके *'बन उपबन बापिका तड़ागा'* के वर्णनका भाव यह है कि जहाँ पुरका वर्णन कवि करे वहाँ वनादिका अवश्य करे, यह कवियोंका नियम है।

वै०—पुरके बाहर १२ वन हैं—अशोक, सन्तानक, मन्दार, पारिजात, चन्दन, चम्पक, रमणक, प्रमोद, आम्र, पनस, कदम्ब, तमाल। यथा—**'पश्यध्वममरास्सर्वे वनं चाशोकसंज्ञकम्। सन्तानकवनं चात्र मन्दारवनमेव च। वनं च पारिजातानां चन्दनानां तथैव च। चम्पकानां वनं दिव्यं यत्र यान्ति न षट्पदाः। वनं रमणकं देवा रमणं यत्र वै हरेः। वनं प्रमोदकं चापि प्रमोदं यत्र भूरिशः। आम्राणां च वनं दिव्यं तथैव पनसैः कृतम्। कदम्बानां वनं दीर्घं केशरैरुपशोभितम्। तमालानां वनं दिव्यं वल्लीभिः परिवेष्टितम्॥'** (सत्योपाख्यान)

खर्रा—भाव यह कि पुरी, वन और उपवनादिके दर्शनसे पाप भाग जाता है तब भीतर प्रवेशकी बात ही क्या है?

☞ रा० प्र०—*'भागा'* अर्थात् जैसे सिंहको देख मृग भागे।—(वा, वधिकको देख पशु भागें,) यथा—*'मुनि गुनि निकट बिहँग मृग जाहीं। बाधक बधिक बिलोकि पराहीं॥'* (अ० २६४। ३)

छंद—बापी तड़ाग अनूप कूप मनोहरायत सोहहीं।
सोपान सुंदर नीर निर्मल देखि सुर मुनि मोहहीं॥
बहु रंग कंज अनेक खग कूजहिं मधुप गुंजारहीं।
आराम रम्य पिकादि खग रव जनु पथिक हंकारहीं॥

दो०—रमानाथ जहँ राजा सो पुर बरनि कि जाइ।
अनिमादिक सुख संपदा रही अवध सब छाइ॥ २९॥

शब्दार्थ—अनूप (सं०) **अनुपम**=उपमारहित, बेजोड़। (सं०)=जलप्राय, जहाँ जल अधिक हो।=सुन्दर। **आयत**=विस्तृत; लम्बा-चौड़ा। **आराम**=बाग, फुलवारी। अणिमादि—बाल० मं० सो० १ देखिये।

अर्थ—बावलियाँ, तालाब और कुएँ सब जलसे भरे हुए हैं, उपमारहित, सुन्दर तथा लम्बे-चौड़े हैं और शोभा दे रहे हैं। (बावली और तालाबोंकी) सीढ़ियाँ सुन्दर हैं, सबका जल निर्मल है। देवता और मुनि देखकर मोहित हो जाते हैं। (तालाबोंमें) बहुत रंगके अनेक कमल (फूले) हैं। अनेक पक्षी अपनी-अपनी बोली बोल रहे हैं और भौंरे गुंजार (शब्द) कर रहे हैं। बाग रमणीक हैं। उनमें कोकिलादि पक्षियोंके शब्द ऐसे हैं मानो वे बोलकर राह चलनेवालोंको बुलाते हैं (तात्पर्य कि मधुर शब्द सुननेके लिये पथिक लौट आते हैं)। रमापति जहाँके राजा हैं वह नगर क्या वर्णन किया जा सकता है? (अर्थात् नहीं)। अणिमादिक अष्टसिद्धियाँ, सुख और सम्पत्ति और नवों निधियाँ सब अवधमें छाकर रह गयीं। (अर्थात्

बस गयी हैं, यहाँसे कहीं जाती नहीं, यह सोचकर कि यहाँ लक्ष्मी और लक्ष्मीके स्वामी निवास करते हैं तब हम इसे छोड़कर कहाँ जायँ।)*॥ २९॥

नोट—१ (क) बावली, तालाब और कुओंकी अनुपमता कई कारणोंसे है। बापी तड़ागोंमें सुन्दर मणि-सोपानें हैं, उनके बनाव विचित्र हैं, जल निर्मल शीतल स्वादिष्ट सुखकारी हैं। सभी जलाशय सदा जलसे पूर्ण रहते हैं यह बात भी सूचित करनेके लिये 'अनूप' शब्द दिया गया जिसमें दोनों भाव हैं। सबको अनुपम कहकर आगे उसकी अनुपमता दिखाते हैं कि देखकर सुर-मुनि भी मोहित हो जाते हैं, देखते ही रह जाते हैं। (ख) श्रीअयोध्याजीमें अनेकों तालाब थे। जैसे कि सूर्यकुण्ड, विद्याकुण्ड, सीताकुण्ड, हनुमानुकुण्ड, वसिष्ठकुण्ड, चक्रतीर्थ इत्यादि। कूपोंमें श्रीसीताकूप अब भी प्रसिद्ध है।

टिप्पणी—१ (क) *'सोपान सुंदर नीर''''''''सुर मुनि मोहहीं'* इति। सुर प्रवृत्तिमार्गवाले हैं और मुनि निवृत्तिमार्गके हैं। इन दोनोंको कहकर दोनों मार्गवालोंका मोहित होना कहा। (ख) *'बहुरंग कंज'''''''''* इति। जलाशय कहकर इन पक्षियोंका वर्णन करना सूचित करता है कि ये सब पक्षी जलाशयके हैं। बागोंके पिकादि पक्षियोंका वर्णन आगे है।

'जनु पथिक हंकारहीं' में 'सिद्ध विषया वस्तूत्प्रेक्षा' है। *'बरनि कि जाइ'* में वक्रोक्ति अलंकार है। रमानाथ राजा हैं, इन्हींके समीप भरपूर लक्ष्मीका विस्तार होना 'परिकरांकुर अलंकार' है।

नोट—१ मिलान कीजिये—*'बिकसे सरसिज नाना रंगा। मधुर मुखर गुंजत बहु भृंगा। बोलत जलकुक्कुट कलहंसा। प्रभु बिलोकि जनु करत प्रसंसा॥''''''''सुंदर खगगन गिरा सुहाई। जात पथिक जनु लेत बोलाई॥'* आ० ४० (१—४) यही सब भाव यहाँ है। *'पथिक हंकारहीं'* कहकर जनाया कि पथिक उधरसे निकलनेपर बिना वन-उपवन-वाटिकाकी सैर किये, बिना फल खाये, पक्षीकी बोली सुने, वहाँसे जाते नहीं, अवश्य वहाँ कुछ देर विश्राम कर लेते हैं।

नोट—२ *'अनिमादिक सुख संपदा रही''''''''''* अर्थात् अष्टसिद्धियाँ अपने-अपने सुखको लेकर आ बसीं। सिद्धियोंके नाम—अणिमा, महिमा, गरिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व। (विशेष बा० २२। ४ देखो) (पं० रा० कु०)।

अणिमादिके साथ सुख-सम्पदा कहनेसे अष्ट अथवा नवनिधियाँ भी जनायीं। मार्कण्डेयपुराणमें निधियोंकी संख्या आठ ही बतायी गयी है। यथा—**'यत्र पद्ममहापद्मौ तथा मकरकच्छपौ। मुकुन्दो नन्दकश्चैव नीलः शङ्खोऽष्टमो निधिः॥'** (अध्याय ६५। ५) इनका विस्तृत वर्णन २। २२०। १ *'मनहु रंक निधि लूटन लागी'* में किया जा चुका है। इसमें महाशंखको मिलाकर कोई-कोई नौ निधियाँ कहते हैं। इसपर **'महापद्मश्च पद्मश्च शङ्खो मकरकच्छपौ। मुकुन्दकुन्दनीलाश्च सर्वश्च निधयो नव॥'** यह श्लोक है पर कहाँका है इसका पता नहीं। इसमें नन्दककी जगह कुन्द है और खर्व नवीं निधि है। पं० रामकुमारजी कुन्द और वर्च्च दो नाम देते हैं (हो सकता है कि खर्वका 'बर्च्च' प्र० सं० में छप गया हो।)

नोट—श्रीमद्भागवतके पुरञ्जनोपाख्यानके पुरबाहरके वर्णनसे यहाँका वर्णन मिलान करने योग्य है। यथा—**'पुर्यास्तु बाह्योपवने दिव्यद्रुमलताकुले। नदद्विहङ्गालिकुलकोलाहलजलाशये॥' 'हिमनिर्झरविप्रुष्मत्कुसुमाकरवायुना। चलत्प्रवालविटपनलिनीतटसम्पदि॥ नानारण्यमृगव्रातैरनाबाधे मुनिव्रतैः। आहूतं मन्यते पान्थो यत्र कोकिलकूजितैः॥'** (४। २५। १७—१९) अर्थात् उस नगरके बाहर दिव्य वृक्ष और लताओंसे पूर्ण एक उपवन था, जो भाँति-भाँतिकी बोली बोलनेवाले पक्षियों और भौंरोंके कलरवसे गुञ्जायमान सरोवरसे युक्त था। जिसके सरोवर-तीरवर्ती वृक्ष शीतल झरनोंके जलकणयुक्त वसन्तकालीन वायुसे हिलते हुए नव-पल्लवोंसे सम्पन्न होकर उसकी

* १ मा० म०—यहाँ 'रमानाथ' पद देकर जानकीजीके नामका भी वियोग कर दिया अर्थात् न सीतानाथ कहा न जानकीनाथ। कारण कि जानकीजी ब्रह्मावर्तमें चली गयी हैं। ऊपरी भाव तो यही है कि दोनोंमें वियोग है पर वस्तुतः उनमें निरन्तर योग है, वियोग कभी नहीं। [मा० म० का यह कथन असङ्गत है; क्योंकि आगे ही कहते हैं कि 'जनकसुतासमेत रघुबीरहि। कस न भजहु भंजन भव भीरहि, (प० प० प्र०)]।

शोभा बढ़ा रहे थे, अहिंसा आदि मुनिव्रतोंको धारण करनेवाले जहाँकि वन्य पशु-समूहोंसे किसीको कोई कष्ट नहीं होता था तथा जहाँ कोकिलकी कूकसे मार्गमें जानेवाले पथिकको अपने बुलाये जानेका भ्रम होता था।

४—*'रही छाइ'* अर्थात् छावनी डाल दी है, वहाँसे कहीं जाती नहीं। ☞*'जातरूप मनि रचित अटारी।'* २७ (३) से *'रमानाथ जहँ राजा.........'* २९ वें दोहेतक पुरका वर्णन हुआ।

पुरवासियोंकी उपासना

जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं। बैठि परस्पर इहै सिखावहिं॥ १॥
भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि। सोभा सील रूप गुन धामहि॥ २॥
जलज बिलोचन स्यामल गातहि। पलक नयन इव सेवक त्रातहि॥ ३॥
धृत सर रुचिर चाप तूनीरहि। संतकंजवन रबि रनधीरहि॥ ४॥

अर्थ—मनुष्य जहाँ-तहाँ रघुनाथजीका गुण गाते हैं। बैठकर एक-दूसरेको यही सिखाते हैं (कि रघुपति-गुणगान करो। सांसारिक व्यवहार नहीं सिखाते)॥ १॥ शरणागतके पालन करनेवाले श्रीरामजीको भजो। शोभा, शील, रूप और गुणोंके धामको भजो॥ २॥ कमलनयन, श्यामल शरीर, पलक नेत्रकी तरह सेवककी रक्षा करनेवाले श्रीरामजीको भजो॥ ३॥ सुन्दर धनुष, बाण और तरकस धारण करनेवाले, संतरूपी कमलवनको सूर्यरूप, रणधीर श्रीरामजीको भजो॥ ४॥

पं० रा० व० श०—सुख होनेपर ज्ञानके संकोचका सम्भव है, अत: उसके निवारणार्थ कहते हैं कि *'जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं'* इत्यादि। *'तहँ तहँ'* अर्थात् जो जहाँ हैं, दस-बीस एकत्र हैं, वहीं।

टिप्पणी—१ (क) *'बैठि परस्पर इहै सिखावहिं।'* भाव कि जिसको गुणगान करते नहीं देखते उसको बैठकर यही सिखाते हैं—[यह कैसे निश्चय हुआ कि जो गुणगान नहीं करते उनको सिखाते हैं? यहाँ तो 'परस्पर' शब्दसे यह भाव कैसे निकलेगा? गुणगान सभी करते हैं, बैठकर आपसमें चर्चा करना यही गुणगान है जो आगे कहते हैं।] (ख)—*'भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि.........'* इति। प्रथम प्रणत-प्रतिपालक गुण देकर सूचित करते हैं कि प्रभु केवल नम्रतासे रीझते हैं। यह उनका एक प्रधान गुण है। यथा—*'भलो मानिहैं रघुनाथ हाथ जोरि जो माथो नाइहै॥'* (वि० १३५) ☞सयाने लोग जो परस्पर यह सिखावन देते हैं वही सुनकर बालक लोग पक्षियोंको पढ़ाते हैं, यथा—*'सुक सारिका पढ़ावहिं बालक। कहहु राम रघुपति जनपालक।'* तात्पर्य कि बड़े लोगों और बालकोंकी प्रीति श्रीरामजीमें समान (एक-सी) है।

नोट—*'भजहु प्रनत प्रतिपालक रामहि।.........'* इति। (क) भजन करनेका उपदेश देते हुए उनके भजनका हेतु और उससे लाभ बताते हैं उनके भजनमें दुर्लभता नहीं है, क्योंकि वे प्रणतपाल हैं, प्रणतमात्रका प्रतिपालन करते हैं। यथा—*'सकृत प्रनाम किहें अपनाए॥'* (२। २९९। ३), *'कोटि बिप्रबध लागहिं जाहू। आए सरन तजउँ नहिं ताहू॥'* (५। ४४। १) इन्द्र और वेदोंने भी इस गुणका वर्णन किया है। यथा—*'जय राम सोभाधाम दायक प्रनत बिश्राम॥'* (६। ११२), *'जय प्रनतपाल दयालु प्रभु॥'* (१३ छन्द) सुग्रीव और विभीषणादिकी शरण आनेसे रक्षा की। इसी तरह आगे भी दिखाते हैं। आदिमें *'रघुपति गुन गावहिं'* कहकर यहाँ *'रामहि'* कहनेका भाव कि वे सगुणरूप श्रीरामजीका भजन करते हैं और उसीकी शिक्षा देते हैं।

(ख) ☞ *'भजहु'* क्रिया आगे भी सब चरणोंके साथ है। (ग) *'सोभा सील रूप गुन धामहि'* इति। भाव कि वे अपनी शोभा, शीलादिसे सबको सुख देते हैं। पुनः भाव कि वे अपनी शोभासे मनको हरकर अपनेमें लगा लेते हैं। (पं० रा० व० श०।) यदि उनकी शोभाको हृदयमें धारण करोगे तो सारे ब्रह्माण्डकी शोभा फीकी लगने लगेगी। यथा—*'देव देखि तव बालक दोऊ। अब न आँखि तर आवत कोऊ॥'* (१। २९३। ५) (करु०)। शोभाके उदाहरण, यथा—*'राम सीय सोभा अवधि॥'* (१। ३०९), *'सोभा धाम राम अस नामा॥'* (३। २२। ८) (यह शूर्पणखाका वाक्य है), इत्यादि। (घ) शीलवान् ऐसे हैं कि कैसा भी घोर अपराधी हो, शरणागत होनेपर उसके सब अपराध भूल जाते हैं और फिर कभी उसका त्याग नहीं करते। (करु०)। किसीका

चित्त किञ्चित् दुःखी न होने पावे इसका सदा खयाल रहता है, यथा—*'सेवक सकुच सोच उर अपने।'* किञ्चित् सेवासे सेवकके हाथ बिक-से जाते हैं, सकृत प्रणामसे सभी जीवोंसे, सब लोकोंसे अभय कर देते हैं, इत्यादि सब शील हैं। उदाहरण यथा—*'चारिउ सील रूप गुन धामा। तदपि अधिक सुख सागर रामा॥'* (१। १९८। ६) *'सील सिंधु सुनि गुर आगवनू॥'* (२। २४३। १) *'ठाकुर अतिहि बड़ो सील सरल सुठि। ध्यान अगम सिवहू भेंट्यो केवट उठि॥'* (वि० १३५। विनय पद १००) *'सुनि सीतापति सील सुभाऊ'* में शीलका उत्तम वर्णन है। *'तुलसी कहूँ न रामसे साहिब सीलनिधान॥'* (१। २९) देखिये (ङ) *'रूपधाम'* से जनाया कि प्रत्येक अङ्गकी गठन एकरस सुडौल है, इसे हृदयमें धारण करनेसे सब विषयोंसे निर्भय हो जाओगे। (करु०)। बिना भूषणादिके ही जो विभूषित देख पड़े और नेत्रोंको अपनी ओर आकर्षित कर ले जैसे चुम्बक लोहेको, उसे रूप कहते हैं। यथा—**'चुम्बकायाः करणान्यायैर्दूरादाकर्षको बलात्। चक्षुषां सगुणो रूपं शाणः स्मारशरावलेः।'** रूप और शोभामें भेद है। सौन्दर्य, माधुरी, सुगन्ध, सुकुमारता, लावण्य और सुवेश आदि शोभाके अङ्ग हैं। देहमें जो छबि होती है, उसे शोभा कहते हैं। (वै०)। रूपधामसे यह भी जनाया कि उनपर जरा आदिका प्रभाव नहीं पड़ा, उनकी देह सच्चिदानन्दमय है, उनकी नित्य किशोरावस्था ही बनी रहती है। (च) *'गुनधाम'* हैं, अतः उनके भजन-स्मरणसे तुम भी सद्गुण-सम्पन्न हो जाओगे, दिन-दिन अनुराग बढ़ेगा। यथा—*'समुझि समुझि गुनग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ॥'* (वि० १००) रूप-गुण-धाम, यथा—*'रूप सकहिं नहिं कहि श्रुति सेषा॥'* (१। १९९) *'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप भूपशिरोमने॥'* (१३) *'चारिउ सील रूप गुन धामा।'*

टिप्पणी—२ (क) *'जलजबिलोचन स्यामलगातहि.........'* इति। जब श्रीरामजी सेवककी रक्षा करते हैं तब कवि नेत्रका विशेषण कमल देते हैं, यथा—*'राजिवनयन धरे धनुसायक। भगत बिपति भंजन सुखदायक।'* (बा० १८। १०) (सुं० ३५। २) देखो। श्यामलगात भक्तका भय हरनेवाला है। यथा—*'स्यामल गात प्रनत भयमोचन'*—(सुं०)। (कमल-समान कहकर कमलदल-समान लम्बे, करुणार्द्र, सौहार्द और शीतलयुक्त भी जनाया)। (ख) *'पलक नयन इव सेवकत्रातहि'* और *'धृत सर-रुचिर-चाप-तूनीरहि'*, इन दोनों चरणोंसे सूचित करते हैं कि अपने भक्तकी रक्षा धनुष-बाण-तरकश धारण करके पलक-नयनकी तरह करते हैं। यथा—*'जोगवहिं प्रभु सिय लषनहिं कैसे। पलक बिलोचन गोलक जैसे॥'* (२। १४२। १) (ग) *'संतकंजबन रबि रनधीरहि।'* भाव कि राम रणधीर हैं, सुंदर शर-चापादि धारणकर राक्षसोंको मारकर संतोंको प्रफुल्लित करते हैं। यथा—*'उदित उदयगिरि मंच पर रघुबर बाल पतंग। बिकसे संत सरोज सब हरषे लोचन भृंग॥'* (१। २५४) *'जलज बिलोचन'* में 'वाचक धर्मलुप्तोपमा' *'पलकनयन इव सेवकत्रातहि'* में पूर्णोपमा और *'संतकंजबन रबि रनधीर'* में 'सम अभेदरूपक' है।

पं० रा० व० श०—*'भजहु प्रनतप्रतिपालक रामहिं'* से भजन करनेका उपदेश देते हुए उनके भजनका हेतु और उससे लाभ बताते हैं कि प्रणतमात्रका प्रतिपालन करते हैं, शोभा-शील-रूप-गुण-धाम इत्यादि हैं वे अपने सेवककी रक्षाको समर्थ हैं, सदा रक्षाके लिये शर-चाप धारण किये रहते हैं, जो उनके नाम-रूपादिको हृदयमें बसाये हैं उनके पास कराल काल फटकने नहीं पाता, इत्यादि। इन विशेषणोंका भाव यह है कि उपास्य देवमें, स्वामीमें, जो-जो गुण होने चाहिये वे सब इनमें हैं और इनकी साहिबी तीनों कालोंमें एकरस, जगत् रहे तब भी और न रहे तब भी, वैसी ही बनी रहनेवाली है—*'आदि अंत मध्य राम साहिबी तिहारी'* इति विनये। अन्य उपास्य देव सदा एकरस नहीं रहते, थोड़ेहीमें गर्म हो जाते हैं यह बात *'सदा एकरस अज अबिनासी'* से जनायी। यहाँ थोड़ेहीमें प्रभुके गुणोंका दिग्दर्शन करा दिया है और वैसे तो गुणोंका अन्त नहीं।

काल कराल ब्याल खगराजहिं। नमत राम अकाम ममता जहि॥ ५॥
लोभ मोह मृग जूथ किरातहि। मनसिज करि हरि जन सुखदातहि॥ ६॥
संसय सोक निबिड़ तम भानुहि। दनुज गहन घन दहन कृसानुहि॥ ७॥

शब्दार्थ—'जहि'—जहना=(सं० जहन) नाश करना, त्याग करना। *'जहि पर दोष अस्त भो कैसे। फिरि है अब उलूक सुखमैसे।'* मनसिज=काम। हरि=सिंह।

अर्थ—कालरूपी कराल सर्पके (भक्षण करनेके) लिये श्रीरामरूप गरुड़को भजो। निष्काम होकर प्रणाम करते ही ममताके नाश कर देनेवाले श्रीरामको भजो*॥ ५॥ लोभ, मोहरूपी मृगसमूहके (नाशके) लिये श्रीरामरूपी किरातको भजो। कामदेवरूपी हाथीके लिये जनको सुख देनेवाले रामरूप सिंहको भजो॥ ६॥ संशय और शोकरूपी सघन अन्धकारके लिये श्रीरामरूप सूर्यको भजो। राक्षसरूपी घने वनको जलानेवाले श्रीरामरूपी अग्निको भजो॥ ७॥

☞'*नमत राम अकाम ममता जहि*' के अर्थ लोगोंने भिन्न-भिन्न किये हैं—

पं० रामकुमारजी—*ममता जहि*=ममताको जीतने अर्थात् नाश करनेवालेको भजो।

वि० टी०—'गरुड़तुल्य रामचन्द्रजीको सब कामना और ममता त्यागकर भजो।'

वीर—'गरुड़रूप रामचन्द्रजी जो निष्काम नमस्कार करनेवालेपर प्रेम करते हैं।'

वै०—'प्रणाममात्रसे अकाम ममता करनेवाले रामको भजो।' 'अकाम ममता जिनमें है।'

वं० पा०—उन श्रीरामजीको निष्काम होकर भजो और ममता छोड़ो।

पं० वि० त्रि०—'*ममता जहि*' का अर्थ न तो 'ममताका नाश कर देनेवाला' हो सकता है, न 'ममता त्याग कर' और न 'ममता करनेवाला' अर्थ हो सकता है। '*ममता जहि*' का पदच्छेद ममता और जहिके रूपसे किया जायगा, तो अर्थ होगा 'ममताको मारो।' परंतु यह अर्थ करनेसे बड़ा भारी दोष यह आ जाता है कि 'नमत' बहुवचन है और 'जहि' एकवचन है, और कर्ता दोनों क्रियाओंका एक ही होगा चाहे उसे **त्वं** मानिये चाहे **यूयम्** मानिये। सो कर्त्ता और क्रियामें वचन-भेद किसी प्रकारसे स्वीकार नहीं किया जा सकता। अत: यदि मम और ताजहि इस भाँति पदच्छेद किया जाय तो अर्थ बैठ सकता है, तब अर्थ होगा 'मेरे मुकुटको।' फारसीमें ताज मुकुटको कहते हैं। फारसीके शब्द मानसमें अनेक स्थलोंमें आये हैं, यथा—'साहिब, गरीब नेवाज, गनी, गुनह आदि। और 'ताज' शब्द बोलचालमें परिगृहीत है, यथा—'अमुक महाशय तो हम लोगोंके सिरताज हैं।' अत: यहाँपर 'मेरे मुकुटको' अर्थ करना ही उचित है।

टिप्पणी—१ (क) '*लोभ मोह मृग जूथ।*' लोभादिक जो बहुत-से विकार हैं वे सब मृगयूथ हैं। लोभादिको मृगयूथ और कामको हाथी कहकर जनाया कि लोभादिक सब विकारोंसे काम भारी विकार है जैसे सब मृगोंसे हाथी भारी है। (ख) '*संसय सोक*.........' इति। संशय-शोकादि भीतरके विकार हैं और दनुज बाहरके हैं। दोनोंको कहकर श्रीरामजीको भीतर-बाहर दोनोंके विकारोंका नाशक सूचित किया। पुन: संशय-शोकको सघन अन्धकार कहनेका भाव कि यह सघन अन्धकार सूर्य, चन्द्रमा और अग्निसे नहीं जा सकता।

नोट—विशेषणोंके उदाहरण—१ '*काल कराल ब्याल*' यथा—'*उमा न कछु कपि के अधिकाई। प्रभु प्रताप जो कालहि खाई॥*' (५। ३। ९) पर्वतपर कालका पहरा था सो वह कुछ न कर सका। पुनश्च यथा—'*जाके डर अति काल डेराई।*' (५। २२। ९) '*काल कर्म सुभाउ गुन भच्छक।*' (३५। ८) '*काल कर्म सुभाव गुन कृत दुख काहुहि नाहिं।*' (२१) '*नमत ममता जहि*' यथा—'*उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥*' '*बार बार नावइ पद सीसा*........*। उपजा ज्ञान बचन तब बोला॥ नाथ कृपा मन भयउँ अलोला।*'—(कि०) '*सकृत प्रनाम किये अपनाए।*' '*लोभ मोह मृगजूथ किरातहिं मनसिज करि हरि*........*।*'—नारदमोह इसका उदाहरण है। स्त्रीका लोभ दूर किया, कामसे रक्षा की—'*ताते कीन्ह निवारन मुनि मैं यह जिय जानि।*' '*हृदय बसि राम काम मद गंजय*' यह सनकादिककी प्रार्थना है। श्रीभरतजी इत्यादिके संशय-शोक दूर किये।

जनकसुता समेत रघुबीरहि। कस न भजहु भंजन भवभीरहि॥ ८॥
बहु बासना मसक हिमरासिहि। सदा एकरस अज अबिनासिहि॥ ९॥
मुनि रंजन भंजन महिभारहि। तुलसिदास के प्रभुहि उदारहि॥ १०॥

---

* नोट—१ 'काल-कराल' से 'सुखदातहि' तक चार चरण काशिराजकी प्रतिमें नहीं हैं। २—इन चरणोंमें परम्परितके ढंगका 'सम अभेद रूपक अलंकार' है।

अर्थ—श्रीजनकसुतासमेत रघुवीरको क्यों नहीं भजते? भवभयको नाश करनेवाले रघुवीरको क्यों नहीं भजते?॥ ८॥ बहुत-सी वासनाओंरूपी मच्छड़ोंके लिये रामरूपी पाला-समूहको भजो। सदा एकरस, अज और अविनाशीको भजो॥ ९॥ मुनियोंको आनन्द देनेवाले, पृथ्वीका भार उतारनेवाले श्रीरामजीको भजो (भाव कि इन्होंने राक्षसोंको, जो पृथ्वीपर भाररूप थे, मारकर मुनियोंको सुखी किया था)। तुलसीदासके उदार प्रभुको भजो॥ १०॥

टिप्पणी—१ (क) जनकसुतासमेत भजनेका भाव कि जिस जनकसुताके वास्ते निशिचरोंको मारा और जो उनको अतिशय प्रिय हैं, यथा—*'जनकसुता जगजननि जानकी। अतिसय प्रिय करुनानिधान की॥'* (बा०), उनके समेत भजनेसे कैसे भवभीरको वे न हरेंगे? [*'जनकसुता समेत'* कहकर अवधवासियोंकी निष्ठाद्वारा अपना मत भी जना दिया कि ये श्रीरामजीसे अभिन्न हैं; विद्या या अविद्या माया नहीं हैं; दोनों एक ही हैं दो नहीं, इनका नित्य-निरन्तर संयोग है, अतः दोनोंकी उपासना करनी चाहिये। *'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'* को यहाँ स्पष्ट किया। दोहावलीमें भी दोनोंका भजन-स्मरण करनेको कहा है। यथा—*'तुलसी सहित सनेह नित सुमिरहु सीताराम। सगुन सुमंगल सुभ सदा आदि मध्य परिनाम॥'* (दो० ५६९) *'पुरुषारथ स्वारथ सकल परमारथ परिनाम। सुलभ सिद्धि सब साहिबी सुमिरत सीताराम॥'* (दो० ५७०) (मा० सं०)। पुनः *'जनकसुता समेत……'* से जनाया कि अपने इष्टदेवमें अनन्यता चाहिये। *'कस न भजहु'* से प्रकट हुआ कि वे स्वयं भजनमें तत्पर हैं और दूसरोंका उत्साह बढ़ाते हैं। (रा० प्र०)। (ख) यहाँ भवभीरका नाश करना कहते हैं इसीसे 'रघुवीर' कहा, यथा—*'महा अजय संसार रिपु जीति सकै सो बीर।'*—(लं०)।

नोट—१ (क) *'बहु बासना मसक हिमरासिहि'* इति। वासनाओंको मच्छड़ कहा अतः उनका दुःख दूर करनेके लिये श्रीरामजीको हिमराशि कहा। हिमके डरसे मच्छड़ भाग जाते ही हैं। यथा—*'मसक दंस बीते हिम त्रासा। जिमि द्विज द्रोह किए कुलनासा॥'* (४। १७। ८) वैसे ही इनके भजनसे सांसारिक विषय-वासनाओंका नाश हो जायगा, वासनाएँ ही भवका कारण हैं। प्रभुमें प्रेम होनेपर वासनाएँ दूर हो जाती हैं यह विभीषणजीने कहा ही है। यथा—*'उर कछु प्रथम बासना रही। प्रभु पद प्रीति सरित सो बही॥'* (५। ४९। ६) (ख) *'सदा एकरस……'* इति। देवताओंने भी ये विशेषण दिये हैं। यथा—*'तुम्ह सम रूप ब्रह्म अबिनासी। सदा एक रस सहज उदासी। अकल अगुन अज अनघ अनामय॥'* (६। १०९। ५-६) 'एकरस' से जनाया कि भूत-भविष्य-वर्तमान सभीमें एक समान रहते हैं, उनमें कोई परिवर्तन नहीं होता। न उसका आदि है, न मध्य और न अन्त अर्थात् वह न तो उत्पन्न हुआ, न बढ़े और न उसका कभी नाश ही हो, वह कभी षट् विकारको नहीं प्राप्त होता। इत्यादि सब भाव 'एक रस' के हैं। श्रीजनकजीने भी कहा है—*'जो तिहुँ काल एकरस रहई।'* (१। ३४१। ८)

रा० प्र०—*'सदा एकरस अज……'* का भाव कि जो अमर कहलाते हैं उनका भी प्रलयमें परिवर्तन होता है और जो अज अनादि कहलाते हैं वे भी एकरस अविनाशी नहीं होते। 'छः अनादि और सूत' मायाके भीतर हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'मुनि रंजन'* कहकर *'महिभार भंजन'* कहनेका भाव कि श्रीरामजीने प्रथम मुनियोंको सुखी किया—*'सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह'* तब राक्षसोंको मारा। (ख) *'तुलसिदासके प्रभुहि उदारहि'* इति। उदार=दाता। प्रभु=समर्थ स्वामी। भाव कि ये सब कुछ दे सकते हैं—*'जन कहँ कछु अदेय नहिं मोरे।'*—यहाँ भाविक अलंकार है॥ ३॥ ☞सर्वत्र 'भजहु' कहनेका भाव कि—अयोध्यावासियोंने जो-जो बातें परस्पर सिखायी हैं और भजन करनेको कहा है इससे यह सूचित हुआ कि वे बातें बिना भजनके नहीं हो सकतीं। *'उदार प्रभु'* का भाव कि जो-जो बातें ऊपर कही हैं वह सब श्रीरामजी करेंगे और इन सबके करनेको वे समर्थ हैं। [पुनः, *'तुलसिदास के प्रभुहि उदारहिं'* का भाव कि तुलसीदासको भी उन्होंने अपना लिया, ऐसे उदार हैं। (पं० रा० व० श०)। पात्रापात्रका विचार न करके कामनाकी पूर्ति करना उदारता है। यथा भगवद्गुणदर्पणे—'**पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणात्। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्या वचसा हरेः॥**' (वै०)]।

दो०—एहि बिधि नगर नारि नर करहिं राम गुन गान।
सानुकूल सब पर रहहिं संतत कृपानिधान॥ ३०॥

अर्थ—इस प्रकार (जैसा ऊपर कह आये) नगरके स्त्री-पुरुष श्रीरामजीके गुण गाते हैं और वे दयासागर सबपर सदा प्रसन्न रहते हैं॥ ३०॥

टिप्पणी—१ *'एहि बिधि'* कहकर सिखावनकी समाप्ति दिखाते हैं। नर-नारियोंने यहाँतक शिक्षा दी। [*'एहि बिधि'* कहकर गुणगानका ढंग बताया कि जो यह सिखावन जान पड़ता है, यह भी गुणगान ही है। उपक्रममें कहा कि *'नर रघुपति गुन गावहिं'* और उपसंहारमें *'नारि नर करहिं राम गुन गान'* यह कहा। इस तरह पूर्वके 'नर' का अर्थ 'लोग' जनाया। (मा० सं०)]। २—*'करहिं राम गुन गान'* इति। प्रथम रामगुणगानका सिखावन लिखा, यथा—*'बैठि परसपर इहै सिखावहिं'* और यहाँ अन्तमें सबका 'रामगुणगान' करना लिखा। तात्पर्य कि जिनको सिखाते थे वे शिक्षा मानकर गुणगान करने लगे और जो सिखाते थे वे भी गुणगान करते हैं इसीसे अन्तमें सबका गुणगान करना लिखा।—विशेष ३० (१) में देखिये।

पं०—*'सानुकूल सब पर'* कहनेका भाव कि जो गुणगान नहीं भी करते या कर सकते, उनपर भी अनुकूल रहते हैं।—[और क्या कहा जाय, हद है कि *'सिवनिंदक अघ ओघ नसाये।'* प्रजापर इतना ममत्व!!]

☞ पुरजन और श्रीरामजीमें परस्पर अन्योन्य प्रेम दिखाया।

रा० शं०—कृपानिधानका भाव कि आपकी कृपा होती है तभी भजन बनता है, यथा—*'अतिसय कृपा जाहि पर होई। पाँव देइ एहि मारग सोई॥'*—[पुनः यह उनकी कृपा है कि प्रसन्न होते हैं, नहीं तो उनको भजनसे कोई क्या प्रसन्न कर सकता है? कथा प्रसिद्ध है कि एक संतने सैकड़ों वर्ष निरन्तर एकरस भजन किया। जिस शिलापर बैठे भजन किया वह शिला ही बैठकसे घिस गयी तब उनके जीमें भजनका गर्व अंकुरित हुआ तुरंत ही प्रभुने उनको दिखा दिया कि तुम्हारा इतना भजन एक पाव भर जलके मोलके बराबर है, इसीपर तुम्हें इतना अभिमान!! भगवान् तो स्वयं गुण देते हैं और स्वयं ही उस गुणका बहाना करके प्रसन्न होते हैं।]

प० प० प्र०—*'जहँ तहँ नर रघुपति गुन गावहिं'* से यहाँ पुरजनकृत प्रथम स्तुति है। यह चौबीसवीं स्तुति धनिष्ठानक्षत्र है। इसमें चार तारे हैं, इसका आकार मर्दल-सा है। यथा—**'स्यान्मर्दलाभं कृतैः'** इति रत्नमालाग्रन्थे। वैसे ही इस स्तुतिमें शोभाधाम, शीलधाम, रूपधाम और गुणधाम चार तारे हैं। आकार-साम्य इस प्रकार है कि जैसे ढोल पीट-पीटकर राजाज्ञा नगरवासियोंको सुनायी जाती है वैसे ही यह स्तुति भी ढिंढोरा-सा पीटती है। इसमें *'भजहु'* से सात बार, *'नमत'* से छः बार और *'कस न भजहु'* से पाँच बार ढिंढोरा पीटा गया है। नक्षत्रका देवता 'वसु' है और वसु-धन-द्रव्य-सम्पत्ति। *'अनिमादि सुख संपदा रहीं अवध सब छाइ।'* कहा ही है। *'प्रभुहि उदारहि'* में यह स्पष्ट है। नक्षत्रकी फलश्रुति है। *'सकल सुकृत फल भूरि भोग से'* और अवधवासी सब सुकृतकी राशि हैं। यथा—*'हम सब पुन्यपुंज जग थोरे। जिन्हहिं राम जानत करि मोरे॥'* (२। २७४। ८)

श्रीरामप्रताप-दिनेश

जब ते रामप्रताप खगेसा। उदित भएउ अति प्रबल दिनेसा॥ १॥
पूरि प्रकास रहेउ तिहुँ लोका। बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका॥ २॥
जिन्हहि सोक ते कहौं बखानी। प्रथम अविद्या निसा नसानी॥ ३॥

अर्थ—(रामप्रताप सुनकर गरुड़जीको शङ्का न हो इस विचारसे भुशुण्डिजी उनको सम्बोधन करके कहते हैं कि) हे पक्षिराज! जबसे रामप्रतापरूपी अत्यन्त प्रचण्ड सूर्य उदय हुआ तबसे तीनों लोकोंमें पूरा उजाला (दिन-रात सर्वदा) पूर्ण रहा है। बहुतोंको सुख और बहुतोंके मनमें शोक हुआ॥ १-२॥

जिन्हें शोक हुआ उन्हें बखानकर कहता हूँ। पहले तो अविद्यारूपी रात्रिका नाश हुआ। (अर्थात् अविद्या मायाका नाश हुआ, सबके हृदयोंमें ज्ञानका प्रकाश हुआ)॥ ३॥

नोट—१ प्रतापका स्वरूप, यथा—'*होत जो स्तुति दानसे कीरति कहिये सोइ। होत बाहुबल ते सुयश धर्म नीति सह होइ॥ जाकी कीरति सुयस सुनि होत शत्रु उर ताप। जग डेरात सब आपही कहिए ताहि प्रताप॥*' (वै०)।

२—हनु० १४ में प्रतापवर्णन देखने योग्य है, यथा—'**कूर्मः पादोऽङ्गयष्टिर्भुजगपतिरसौ भाजनं भूतधात्री तैलापूराः समुद्राः कनकगिरिरयं वृत्तवर्तिप्ररोहः। अर्चिश्चण्डांशुरोचिर्गगनमलिनमा कज्जलं दह्यमाना शत्रुश्रेणी पतंगा ज्वलति रघुपते त्वत्प्रतापप्रदीपः**॥'(हनु० १४। ७७) अर्थात् हे श्रीरामचन्द्रजी! जिसके कूर्मराज तो पाद (फतीलसोजके नीचेकी थाली) है, शेष ही जिसका दण्ड है, पृथिवी जिसका पात्र है, समुद्रोंका जिसमें तेल है, हिमाञ्चल जिसमें गोल बत्ती है, प्रज्वलित सूर्यकिरणें जिसकी किरणें हैं, आकाशकी श्यामता जिसका कज्जल है, इस प्रकार भस्म होते हुए शत्रुओंकी पंक्ति जिसमें पतंग हैं ऐसा आपके प्रतापका दीपक प्रज्वलित होता है। पुनश्च यथा—'**कैलासो निलयस्तुषारशिखरी विन्दिर्गिरीशः सखा स्वर्गङ्गा गृहदीर्घिका हिमरुचिश्चन्द्रोपलो दर्पणः। क्षीराब्धिर्नवपूर्तकं किमपरं शेषस्तु शेषत्विषो यस्याः स्यादिह राघव क्षितिपते कीर्तेस्तटाकस्तव**॥'(हनु० १४। ७८) (श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि) हे पृथिवीपति रामचन्द्रजी! कैलास जिसका स्थान है, हिमाञ्चल जिसके उपवेशका स्थान है, महादेव जिसके मित्र हैं और आकाशगङ्गा जिसके घरकी बावड़ी है, निर्मलकान्तिवाला चन्द्रकान्तमणि जिसका दर्पण है और क्षीरसागर जिसका नवीन जलयुक्त खनित देश है, शेषजीकी किरणें जिसकी अङ्गदीप्तियाँ हैं ऐसा आपकी कीर्त्तिका विस्तार है। पुनश्च यथा—'**राम राम महावीर के वयं गुणवर्णने। यत्कीर्त्तिकामिनी भाले कस्तूरीतिलकं नभः॥ लक्ष्मी तिष्ठति ते गेहे वाचि भाति सरस्वती। कीर्त्तिः किं कुपिता राम येन देशान्तरं गता**॥'(८१) (श्रीहनुमान्‌जी कहते हैं कि) हे राम! हे महावीर रामचन्द्रजी! हम आपके गुण क्या वर्णन कर सकें। जिन आपकी कीर्तिरूपिणी स्त्रीके मस्तकमें कस्तूरीका तिलकरूप आकाश शोभित है अर्थात् आपकी कीर्ति अनन्त है। हे रामचन्द्रजी! आपके घरमें तो लक्ष्मीजी स्थित हैं और वाणीमें साक्षात् सरस्वती सुशोभित हैं पर न जाने कीर्ति क्यों रूठ गयी है कि परदेशको चली गयी। अर्थात् व्यंग्यसे कहते हैं कि आपकी कीर्ति देश-देशान्तरोंमें प्रख्यात हो गयी है।

टिप्पणी—१. (क) '*अति प्रबल दिनेसा*' का भाव कि प्राकृत सूर्य प्रबल है और रामप्रताप '*अति प्रबल*' है। सूर्य बाहरका अन्धकार दूर करता है और रामप्रताप अन्तःकरणका। सूर्यके सावयव रूपकालंकारद्वारा श्रीरामजीका प्रताप वर्णन करते हैं—यहाँसे सांगरूपक है। (ख) '*पूरि प्रकास रहेउ*' का भाव कि सूर्यका प्रकाश अस्त हो जाता है और रामप्रतापका प्रकाश सदा एकरस बना रहता है। प्राकृत सूर्यका प्रकाश त्रिलोकमें एक ही कालमें नहीं होता और रामप्रताप-प्रकाश एक ही कालमें सर्वत्र व्याप्त हो रहा है। सूर्यके प्रकाशसे बहुतोंको सुख और बहुतोंको दुःख होता है, वैसे ही रामप्रतापके उदयसे बहुतोंको सुख और बहुतोंको शोक होता है।—यहाँ 'प्रथम व्याघात अलंकार' है।

२. (क) '*जिन्हहि सोक ते कहौं बखानी*' इति। उत्तम वस्तुका पीछे वर्णन करना चाहते हैं। वर्णन करनेकी विधि यही है जिसमें उत्तम वस्तुके वर्णनपर प्रसंगकी समाप्ति हो। श्रोताको हर्ष हो। अतएव प्रथम शोकवालोंको गिनाते हैं। '*कहौं बखानी*' का भाव कि उनका अन्तकाल आ गया। (वै०) बखानकर कहनेका भाव कि बिना इनको पूर्णरूपेण जाने स्वरूपका ज्ञान न होगा और न सुख। कहा भी है कि '*जाने ते छीजहिं कछु पापी। नास न पावहिं जन परितापी॥*' (१२२। ३) '*रामकृपा नासहिं सब रोगा।*' (ख) '*प्रथम अविद्या निसा नसानी*' इति।—अविद्याका नाश प्रथम कहनेका भाव कि प्रथम अविद्या रात्रिके नाश हुए बिना जो दुःख-सुखका हाल आगे कहना चाहते हैं वह कहते न बनेगा, जब अविद्याका नाश होगा तब पापरूपी उल्लू लुकेंगे और काम-क्रोधरूपी कुमुद संकुचित होंगे। इत्यादि।

३. ☞ रामप्रतापके उदयसे अविद्याका नाश होना लिखनेसे सूचित हुआ कि सब युगोंमें अविद्याका निवास सब जीवोंके हृदयमें रहता है।

पं० रा० व० श०—अपना स्वरूप भूल जाना, कर्तव्य भूल जाना, यह अविद्याका काम है। इसका नाश कहकर जनाया कि सबको स्वरूप और कर्तव्यका ज्ञान है। सब जानते हैं कि श्रीरामजी हमारे स्वामी हैं और हम सेवक हैं। *'सेवक हम स्वामी सियनाहू। होउ नात एहि ओर निबाहू॥'*

नोट—पहले तो कहा कि *'बहुतेन्ह सुख बहुतन मन सोका।'* अर्थात् प्रथम सुख शब्द दिया तब शोक। पर वर्णन करनेमें प्रथम शोकवालोंको कहा तब सुखवालोंको। क्रम पलटनेका भाव कि प्रसङ्गकी समाप्ति शोकके प्रसङ्गपर न करनी चाहिये। दूसरे, विरोधीका ज्ञान पूर्ण और प्रथम होना चाहिये। इसके जाननेसे उनके छोड़नेसे अनुकूल स्वतः प्राप्त हो जायगा, अतः दूसरेके विस्तारकी जरूरत नहीं पड़ेगी। भक्तको विरोधी-स्वरूपका जानना अर्थपञ्चकमें परमावश्यक बताया है। वहाँपर १२ विरोधी गिनाये गये हैं, वैसे ही यहाँ भी १२ गिनाये हैं—अविद्या, अघ, काम, क्रोध, कर्म, गुण, काल, स्वभाव, मत्सर, मोह और मद—इनका ज्ञान हो जानेसे इनसे भक्त सावधान रहेगा। यहाँ विपरीत क्रमका यथासंख्य अलङ्कार है।

प० प० प्र०—अविद्या ही सब क्लेशोंका मूल है। अविद्याजनित क्लेश पाँच हैं। यथा—**'अविद्यास्मिता-रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः'** (पातञ्जलयोगसूत्र), *'दारुन अविद्या पंच जनित विकार श्रीरघुबर हरे।'* *'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला'* है, इससे मूलका विनाश प्रथम कहा।

मा० हं०—रामराज्यमें शोक करनेवालोंका वर्णन। इस रूपककी कल्पना स्वतन्त्र होकर बहुत ही उत्कृष्ट है। हमारी समझसे स्वधर्माधिष्ठित स्वराज्यमें डरे हुए कौन रहते हैं, यह इस वर्णनके बहानेसे स्वामीजीने बतलाया है।

प० प० प्र०—श्रीलक्ष्मणजीने रवि-उदय-व्याजसे जिस राम-प्रतापका उपक्रम किया था, यथा—*'रबि निज उदय ब्याज रघुराया। प्रभु प्रतापु सब नृपन्ह देखाया।'* (१। २३९। ५) उसीका यहाँसे उपसंहार किया जा रहा है।

अघ उलूक जहँ तहाँ लुकाने। काम क्रोध कैरव सकुचाने॥ ४॥
बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ। ए चकोर सुख लहहिं न काऊ॥ ५॥
मत्सर मान मोह मद चोरा। इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा॥ ६॥

शब्दार्थ—**कैरव**=सफेद कमल, कुमुद, कुईं। **मत्सर**=ईर्ष्या, डाह। **मान**=प्रतिष्ठा, बड़ाईका खयाल। **मोह**=स्त्री, पुत्र, घर इत्यादि सांसारिक विषयोंमें ममता। मद अष्ट प्रकारके हैं—जाति, कुल, रूप, युवा, धन, विद्या, ध्यान, ज्ञानका मद (करु०)। मद कोई १२ कोई ५ कहते हैं।

अर्थ—(अविद्यारूपी रात्रिके न रहनेसे) पापरूपी उल्लू (जो अविद्यारात्रिसे सुखी होते थे) जहाँ-तहाँ छिप गये (अर्थात् लोगोंमें अधर्म वा पापकी प्रवृत्ति न रह गयी, पाप ही मिट गया।) और काम-क्रोधरूपी कैरव सिकुड़ गये (अर्थात् काम और क्रोध करनेमें लोग संकुचित हो जाते हैं)॥ ४॥ अनेक कर्म, गुण, काल और स्वभाव—ये चकोर हैं जो कभी भी सुख नहीं पाते। (अर्थात् अविद्या-रात्रिमें इनको सुख मिलता था, अब वह रात्रि रह ही न गयी अतः इनका सुख भी न रह गया)॥ ५॥* मत्सर, मान, मोह और

* वि० टी० ने अर्थ किया है कि—'गुण और कालके प्रभावसे किये हुए अनेक प्रकारके कर्मरूपी चकोर कहीं भी सुख नहीं पाते थे।'—पद दो० २१ में देखिये।

वि० टी० (१)—भाव यह है कि त्रेतायुगमें उस युगके अनुसार सतोगुणके साथ कुछ रजोगुण और कुछ तमोगुणकी प्रबलताके कारण मनुष्य जो अनेक प्रकारके कर्म करते थे, उन्हें उन अनुचित कर्मोंका माना हुआ सुख रामराज्यके कारण नहीं मिलता था। इसी प्रकार युगकालके प्रभावसे जो पापरूपी कर्म करनेवाले सुख चाहते थे, वह भी उन्हें न मिलता था। कारण कि कर्मोंके पापांशका इस राज्यमें दमन हो गया था। सारांश यह है कि युगके प्रभावसे दूषित-गुणयुक्त तथा दूषित कालयुक्त कर्मोंकी प्रबलता रामराज्यमें नहीं चलती थी। (२)—'इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा' अर्थात् जो लोग दूसरेकी विभूति देखकर डाह करते थे, जो अपने आगे किसीको कुछ न समझते थे, जो विशेष ममतामें फँसे थे और जो रूप, यौवन, धनादिके कारण मस्त थे, ऐसे जीव श्रीरामराज्यमें चोरोंकी नाईं छिपे रहते थे। इनका बल दब गया था।—(पर इससे तो यह सिद्ध होता है कि ऐसे लोग भी उस राज्यमें थे, यद्यपि ऐसा था नहीं। मा० सं०)।

मदरूपी चोरोंका हुनर वा गुण किसी भी दिशामें नहीं चल पाता (तात्पर्य कि जहाँ जाते हैं वहाँ प्रवेश करनेका मौका और मार्ग नहीं पाते)॥ ६॥

पं० रा० कु०—☞ अविद्याका नाश कहकर अब उसके परिवारका नाश कहते हैं। अघको उलूक कहा, क्योंकि पाप भी रातमें ही प्राय: किये जाते हैं; दिनमें पाप करनेवाले छिपे रहते हैं।

रा० प्र०—(क) *'अघ उलूक·········'* इति। *'लुकाने'* का भाव कि यह निर्मूल तो होता ही नहीं। इनका नाम जहाँ-तहाँ पोथियोंमें लिखा रह गया है और रूप केशादिमें। (प्र० स्वामी लिखते हैं कि 'लुकाने' का सामान्य अर्थ 'छिप गये' लेनेसे सिद्धान्तविरोध होगा। *'करहिं मोह बस नर अघ नाना',* मोह ही पाप-प्रवृत्तिका मूल है। जब अविद्या, अज्ञान, मोह ही नष्ट हो गये, तब वृक्ष, शाखा, पल्लव आदि कहाँसे प्रकट होंगे।) (ख) *'काम क्रोध कैरव सकुचाने।'* भाव कि इन सबने भक्ति और वैराग्यादिक रूप धारण कर लिया। ये सब धर्मके बढ़ानेवाले बन गये।—*'श्यामभजनमें काम सदा अधरमपर कोप बढ़ावै। सत्संगतिमें लोभ मोह पर अवगुनमें ठहरावै॥ दासपनेमें अहंभाव इन्द्रिनपर मत्सर धावै॥* ऐसे बहुत·········।'

पं० रा० कु०—*'बिबिध कर्म गुन काल सुभाऊ'* ये सब जीवोंके दु:खदाता हैं, यथा—*'काल कर्म गुन सुभाव सब के सीस तपत'*—(वि० १३०। दोहा २१)।—(विविध कर्म—मानसिक, वाचिक और कायिक एवं सात्त्विक, राजस और तामस इत्यादि अनेक प्रकारके कर्म हैं)।

वि० त्रि०—जीव सदा काल, कर्म, स्वभाव और गुणके घेरेमें मायाकी प्रेरणासे घिरा रहता है, यथा—*'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुन घेरा।'* सञ्चित, क्रियमाण, प्रारब्ध कर्मोंके भेद हैं। सात्त्विक-राजस-तामस गुणके भेद हैं। भूत, भविष्य और वर्तमान कालके भेद हैं, तथा पूर्वजन्मके संस्कारानुसार स्वभावके अनन्त भेद हैं। मायाके वशमें पड़ा हुआ जीव इनके फन्देके बाहर निकल नहीं सकता। परंतु जब अविद्या-(निशा-) का ही नाश हो गया, तो ये सब निर्बल पड़ गये। सब ओरसे घेरा टूटने लगा, अत: कहते हैं कि वे चकोर हैं, निशानाथसे प्रेम करनेवाले, इन्हें मध्याह्नमें सुख कहाँ?

पं० रा० कु०—*'इन्ह कर हुनर न कवनिहु ओरा'* इति। (क) इन चोरोंके उपाय नीच हैं, इसीसे गोसाईंजीने इनके उपायको व्यङ्गसे लिखा है, 'हुनर' शब्दमें व्यङ्ग है। 'हुनर' उत्तम गुणको कहते हैं, इस शब्दको यहाँ देकर व्यङ्गसे 'नीचता' सूचित की है। (ख) हुनर नहीं चलता अर्थात् ये चारों किसीके हृदयमें प्रवेश नहीं कर सकते, क्योंकि सबके हृदयमें राम-प्रताप है। (ग) *'कवनिहु ओर'* का भाव कि मन, बुद्धि, चित्त और अहङ्कार इन चारोंके द्वारा इनका प्रवेश नहीं हो सकता। (घ) ☞ जिनको शोक हुआ उनका वर्णन हो चुका। जिनको सुख हुआ उनका वर्णन आगे करते हैं।

गौड़जी—१ काल, कर्म, गुण और स्वभाव युग-युगके अनुसार बर्तते हैं। इनका सर्वोत्तम रूप सतयुगमें होता है। त्रेतायुगमें रामराज्यके पूर्व युगके अनुसार काल-कर्मादि बर्तते थे, परंतु श्रीरामराज्यका आरम्भ होते ही उनके अधिकार छिन गये, युगानुसार काल नहीं बर्तता था। अल्पमृत्यु एकदम बंद हो गयी, युगके अनुसार जितनी आयु चाहिये थी उससे कहीं अधिक आयुका उपभोग उन सबोंने किया, जो भगवान् रामचन्द्रके समान अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करनेमें समर्थ हुए। कर्म, गुण और स्वभावमें भी रामराज्यमें साधारण-से-साधारण प्रजा कर्तव्यपरायण, धर्मात्मा, सद्गुणसम्पन्न और सच्चरित्र थी। इसलिये सबके लिये सतयुग बर्तता था। इसीलिये त्रेतायुगके काल, कर्म, गुण और स्वभावको रामराज्यभरमें कहीं जगह न थी। ११ हजार वर्षके लिये ये अपने ओहदोंसे मुअत्तल हो गये थे।

२ इन्हें चकोर इसलिये कहा कि काल-कर्म-गुण-स्वभाव अपना सबसे बड़ा प्रभाव मनके ऊपर डालते हैं। चकोर एकटक चन्द्रमाकी ओर देखता है। यहाँ रामप्रतापदिनेशके उदय होनेसे मनरूपी चन्द्रमा मन्द पड़ गया है, अब मनको वह स्वतन्त्रता नहीं है कि चाहे जिस ओर भली-बुरी राहमें जीवको घसीट ले जाय। उसका अस्त भी हो रहा है। अर्थात् मन पूरे तौरसे विजित है; इसीलिये काल-कर्मादि चकोरोंको कैसे सुख मिल सकता है?

३—मत्सर-मान-मोह-मदके वश होकर लोग तरह-तरहकी चालें चलते हैं और सचाईसे छिप-छिपकर आचरण करते हैं, इसीलिये इन विकारोंको चोर कहा गया है। चोरीमें चालाकी खास बात है, चोरी भारी कला है, बहुत बड़ा हुनर है; परंतु रामराज्यमें इन चोरोंका कोई हुनर किसी दिशामें काम न देता था।—['ऐब करनेको हुनर चाहिये' यह कहावत है। मिलान कीजिये—*'कामकला कछु मुनिहि न ब्यापी' 'असमसर कला प्रबीन'*]

पं० रा० व० श०—१ पहले अविद्याका नाश कहा तब पापका। क्योंकि पंचपर्वा अविद्यासे पापमें प्रवृत्ति होती है। जब अविद्या ही न रह गयी तब पाप कैसे रहे? २—'मत्सर' इति। दूसरेकी उन्नति देखकर न सह सकना वरन् उसके अभिमर्दनका उपाय करनेकी इच्छा करना मत्सर है। ३—अविद्याको रात्रि कहकर फिर उस रात्रिमें जो-जो सुख पाते हैं उनको गिनाया।

प० प० प्र०—विभीषणजीके *'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* (५। ४७। १—४) ये वचन यहाँके *'मतसर……'* इन वचनोंका सार है। इससे सिद्ध हुआ कि सभी रामराज्यनिवासियोंके हृदयमें धनुर्धर श्रीरामजी निवास करते थे।

धरम तड़ाग ग्यान बिग्याना। ए पंकज बिकसे बिधि नाना॥ ७॥
सुख संतोष बिराग बिबेका। बिगत सोक ए कोक अनेका॥ ८॥

अर्थ—धर्मरूपी तालाबमें ज्ञान और विज्ञानरूपी अनेक प्रकारके कमल खिल उठे हैं॥ ७॥ सुख, संतोष, वैराग्य और विवेकरूपी अनेक चक्रवाक शोकरहित हो गये॥ ८॥

टिप्पणी—१ तड़ागमें कमल उत्पन्न होते हैं, धर्म करनेसे ज्ञान और विज्ञान उत्पन्न होते हैं। कमल चार प्रकारके होते हैं इसीसे *'बिधि नाना'* कहा। विशेष *'बालचरित चहुँ बंधु के बनज बिपुल बहुरंग॥'* (१। ४०) तथा *'सोइ बहुरंग कमल कुल सोहा॥'* (१। ३७। ५) देखिये। [*'धर्म ते बिरति जोग ते ग्याना'* कहा है (३। १६। १)। इसके अनुसार धर्मसे विरतिरूपी कली पैदा होती है, जो योगरूपमें वृद्धि पाती है और ज्ञान-विज्ञानरूपमें विकसित होती है। *'बिधि नाना'* कहनेका भाव यह कि जैसे मानसमें चार रंगके कमल कहे हैं वैसे ही वेदान्तदर्शन ज्ञान-विज्ञानमें भी चार प्रकार मुख्य हैं—द्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत और केवलाद्वैत। उनमें भी भिन्न-भिन्न छटाओंके भेद सम्प्रदायानुसार बहुत हैं। (प० प० प्र०)]

टिप्पणी—२ *'सुख संतोष……'* इति। जैसे रात्रिके रहनेसे चक्रवाक सुख नहीं पाते वैसे ही हृदयमें अविद्याके रहनेसे सुख, संतोषादि बड़ा कष्ट पाते हैं, अविद्याका नाश कह चुके; इसीसे अब इनका शोकरहित होना कहा।

दो०—येह प्रताप रबि जाकें उर जब करै प्रकास।
पछिले बाढ़हिं प्रथम जे कहे ते पावहिं नास॥ ३१॥

अर्थ—यह श्रीरामप्रतापरूपी सूर्य जिसके हृदयमें जब प्रकाश करता है तब (धर्म, ज्ञान, विज्ञान, सुख, संतोष, वैराग्य और विवेक) जिनको पीछे कहा है वे बढ़ते हैं और (अविद्या, पाप, काम, क्रोध, कर्म-काल-गुण-स्वभाव, मत्सरादि) जिनको प्रथम कहा वे नाशको प्राप्त होते हैं॥ ३१॥

टिप्पणी—१ *'जब करै'* का भाव कि प्रतापरविके प्रकाश करनेका कोई नियम नहीं है। २—'जाकें' और 'जब' शब्द देकर सूचित किया कि कोई भी हो एवं कोई भी समय हो।

☞ रघुनाथजीने अवतार लेकर पृथिवीका भार उतारकर भक्तोंको सुख दिया, यह कथा समाप्त कर चुके। अब रघुनाथजीकी साकेतयात्रा निकट समझकर रामप्रतापका वर्णन और भक्ति और सत्सङ्गका माहात्म्य कहते हैं जिससे रघुनाथजीके पीछे सभी युगोंमें सांसारिक जीव सुखी रहें। श्रीरघुनाथजीके प्रतापको हृदयमें धारण करनेसे रामराज्यका सुख जीवोंको प्राप्त होगा—यह लोक-शिक्षात्मक उपदेश है। भुशुण्डिजीने भी कहा है—*'काल धर्म नहिं ब्यापहिं ताही। रघुपति चरन प्रीति अति जाही॥'* (१०४। ७) प्रताप जाननेसे ही अति सुख प्राप्त होता है।

पं० रा० व० श०—१ यहाँ राज्यका पूर्वचरित समाप्त हो गया। आगे राज्यका उत्तरचरित कहते हैं। यहाँतक भुशुण्डि-गरुड़-संवाद प्रकट रहा, आगे शिव-पार्वती-संवाद है—(वै०)।

नोट—रामप्रताप-वर्णन *'रामराज बैठे त्रैलोका·········रामप्रताप बिषमता खोई'* २० (७-८) से और उसका *'अति प्रबल दिनेश'* से रूपक *'जब तें रामप्रताप खगेसा॥'* (३१। १) से आरम्भ हुआ। उपसंहार यहाँ है।

'सनकादिक'-प्रसङ्ग

भ्रातन्ह सहित रामु एक बारा। संग परमप्रिय पवनकुमारा॥ १॥
सुंदर उपबन देखन गए। सब तरु कुसुमित पल्लव नए॥ २॥

अर्थ—एक बार भाइयोंसहित श्रीरामचन्द्रजी परमप्रिय पवनपुत्र हनुमान्‌जीको संग लिये हुए सुन्दर उपवन देखने गये। वहाँके सब वृक्ष फूले हुए और नवीन पत्तोंसे युक्त थे॥ १-२॥

टिप्पणी—*'भ्रातन्ह सहित'* का भाव कि भाइयोंको उपदेश देकर सुखी करना चाहते हैं। २—*'परमप्रिय'* अर्थात् भाइयोंसे भी अधिक प्रिय, यथा—*'सब मम प्रिय नहि तुम्हहिं समाना·········।'* पुनः, भाव कि सब भाई श्रीरामजीके सेवक हैं और हनुमान्‌जी सब भाइयोंके सेवक हैं, उन्होंने सब भाइयोंका उपकार किया है, अतः *'परमप्रिय'* कहा।—(ये भाइयोंको भी परमप्रिय हैं, क्योंकि उनको कथा सुनाया करते हैं)। [मा० म०—*'परमप्रिय'* कहनेके कारण—(१) त्रिविधवायुसे वन सुखदायक हो रहा है। उसी वायुके ये पुत्र और उसीके रूप हैं। वा (२)—श्रीरामचन्द्रजी सखाओंको त्यागकर हनुमान्‌जीको साथ लेकर गये। वा (३) हनुमान्‌जीकी सानुकूलतासे अभङ्ग सत्सङ्ग होता है—अतएव *'परमप्रिय'* कहा।] ३ *'पवनकुमारा'* का भाव कि ये पवनदेवके समान बलवान् और बुद्धिमान् हैं। ४—*'सब तरु कुसुमित पल्लव नए'* से प्राकृत उपवनके वसन्त-ऋतुका अनुमान करना उचित था, पर श्रीरामराज्यमें ऐसा अनुमान अनुचित है। यहाँ तो सदा वसन्त रहता है। यथा—*'फूलहिं सदा बसंत की नाईं॥'* (२८। २) *'जहँ बसंत रितु रही लुभाई।'* जो ऊपर २८ (२) में *'लता बिबिध बहु जाति सुहाई'* के विषयमें स्पष्ट कहकर उपलक्षणसे सूचित किया था, वही यहाँ दोनों चरणोंमें एक-एक मात्रा कम करके वृक्षोंके विषयमें सूचित किया। मात्राकी कमीसे आश्चर्यका भाव प्रकट किया है कि वसन्त न होनेपर भी *'सब तरु कुसुमित·········'* हैं।

जानि समय सनकादिक आए। तेजपुंज गुन सील सुहाए॥ ३॥
ब्रह्मानंद सदा लय लीना। देखत बालक बहु कालीना॥ ४॥

अर्थ—सुअवसर जानकर श्रीसनकादिक ऋषि आये जो तेजराशि (तेजस्वी) और सुन्दर गुणों और शीलस्वभावसे शोभित हैं॥ ३॥ सदैव ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहते हैं (अखण्ड लौ लगी रहती है)। देखनेमें बालक हैं परंतु बहुत कालके हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'जानि समय'* अर्थात् अपने वाञ्छितकी सिद्धिका समय वा, एकान्त समय वा साकेतयात्राकी समीपता समझकर आये। (इस समय वर माँगनेके लिये सुअवसर जानकर आये और दर्शनार्थ तो प्रतिदिन आया ही करते थे। २७। १-२। देखिये।) (ख) *'तेजपुंज गुन सील सुहाए'* तेजपुंज कहकर तपस्वी जनाया।, क्योंकि तपसे तेज प्राप्त होता है, यथा—*'बिनु तप तेज कि कर बिस्तारा।'* (९०। ५) शील तेजस्वीकी शोभा है। (ग) *'सदा लय लीना'* से मनकी निर्मलता दिखायी। *'ब्रह्मानंद लय लीना'* अर्थात् तदात्मक ब्रह्माकारवृत्ति सदा एकरस अखण्ड रहती है। (करु०) पुनः, 'लयलीन' 'लय' से सदा आद्योपान्त एकरस और 'लीन' से तद्रूप होना जनाया जैसे गीतमें आरम्भसे समाप्तितक लयतालकी एक लड़ी निबहे (रा० प्र०)।

नोट—१ *'बहु कालीना'* क्योंकि सृष्टिके प्रारम्भमें इनकी उत्पत्ति हुई। ये ब्रह्माके प्रथम पुत्र हैं; नारदसे भी बड़े हैं। ये सदा ५ वर्षकी अवस्थाके रूपमें रहते हैं जिसमें माया न लगे, इसीसे *'देखत बालक'* कहा।

पुनः, *'बहु कालीना'* अर्थात् कालगतिसे परे हैं। अपनी इच्छासे दिव्य रूप बनाये हुए हैं, जैसे मार्कण्डेय सदा २५ वर्षके और शिवजी सदा बूढ़े बने रहते हैं। (रा० प्र०)

रूप धरे जनु चारिउ बेदा। समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥ ५॥
आसा बसन ब्यसन येह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥ ६॥

शब्दार्थ—**ब्यसन**=किसी प्रकारका शौक; किसी विषयके प्रति विशेष रुचि या प्रवृत्ति। **समदरसी**=सबको एक-सा समान देखनेवाले।

अर्थ—(ऐसे देख पड़ते हैं) मानो चारों वेद रूप धारण किये खड़े हैं (मूर्तिमान् होकर आये हैं)। समदर्शी हैं, मुनि हैं और भेदरहित हैं॥ ५॥ दिशाएँ ही उनके वस्त्र हैं (अर्थात् नंगे रहते हैं) और उनका यह व्यसन है कि जहाँ रघुनाथजीका चरित होता है वहाँ (जाकर) उसे सुनते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ ***'रूप धरे जनु चारिउ बेदा'*** का भाव कि चारों वेदोंका अभिप्राय सनकादिकसे कुछ भी छिपा नहीं है, मानो वे साक्षात् वेदके रूप ही हैं।—[(i) इससे उनका पाण्डित्य और ज्ञान दिखाया—(पं० रा० व० श०)। (ii) इनके नामोंसे वेदोंके नामका अर्थ निकलना जनाया—(रा० प्र०)] २—'भेद रहित' अर्थात् ईश्वर और जीवके भेदसे रहित हैं; ईश्वर और जीवको पृथक् नहीं मानते।

मा० म०—समदर्शी और विगत विभेदका भाव यह है कि ये मुनि परतमस्वरूप श्रीरामचन्द्रके रूपको सबके अभ्यन्तर देखते हैं एवं प्रकार अभेद-निरूपण सुखके पुञ्ज हैं। यदि सनकादिकका यही भाव न होता तो वे कदापि प्रेमभक्ति वर न माँगते और न रामकथाके रसिक होते।

प० प० प्र०—'समदर्शी' से ***'देखहिं ब्रह्म समान जग माहीं'*** यह ज्ञानलक्षण सूचित किया। और यह भी जना दिया कि मानादि अज्ञान-लक्षण उनमें नहीं हैं। ***'बिगत बिभेदा'*** से ***'सरग नरक अपबर्ग समाना। जहँ तहँ देख धरे धनु बाना॥ करम बचन मन राउर चेरा।'*** (२। १३१। ७-८) ऐसा होना तथा वाल्मीकिजीके कथनानुसार श्रीसीता-लक्ष्मणसहित श्रीरामजीका उनके हृदयमें निवास करना जनाया।

नोट—'समदर्शी'=जो विद्या-विनय-सम्पन्न ब्राह्मण, गौ, हाथी और कुत्ते तथा चाण्डालमें भी (जो अत्यन्त विषमाकार प्रतीत होते हैं उन सब आत्माओंमें ज्ञानकी एकाकारतासे सर्वत्र) समान देखनेवाले होते हैं। यथा—**'विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि। शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः॥'**(गीता ५। १८)' इसका तात्पर्य यह है कि 'यह विषमाकार तो प्रकृतिका है, आत्माका नहीं, आत्मा तो ज्ञानकी एकाकारताके कारण सब जगह सम है' ऐसा वे अनुभव करते हैं (श्रीरामानुजभाष्य)।

'ब्यसन यह तिन्हहीं।' व्यसन मनको आकर्षित करता है, जिसका जो व्यसन पड़ जाता है उसके बिना उससे रहा नहीं जाता। इनको रामचरित सुननेका व्यसन है। इसलिये उसके श्रवण बिना इनसे रहा नहीं जाता।—[***'ब्यसन यह तिन्हहीं'*** कहकर बता रहे हैं कि जब ऐसे महर्षि श्रीरामचरित्र ही सुना करते हैं तब हमको भी लत किसी संसारी वस्तुकी न डालकर भगवत्-सम्बन्धी ही व्यसन होना चाहिये। पुनः, इससे जनाया कि ये उसका विशेष रस जानते हैं, यथा—***'रामचरित जे सुनत अघाहीं। रस बिसेष जाना तिन्ह नाहीं॥'*** ये जानते हैं अतः अघाते नहीं।] ***'तहँ सुनहीं।'*** भाव कि वक्ता कोई भी हो इसकी पर्वा नहीं, रामचरित वह कहता हो तो ये उसके श्रोता हो जाते हैं।

करु०—इससे सारांश यह निकला कि रामचरितका तत्त्वरस सनकादिककी दशाकी प्राप्ति होनेपर यथार्थ मिलता है।

वै०—***'आसा बसन ब्यसन………।'*** भाव यह कि जहाँ रामचरित होता है वहाँ श्रवण-इन्द्रियमें मन लगाकर सुनते हैं और किसी बातमें इन्द्रिय-सुख जानते ही नहीं। इस कथाके लिये ही मुनियोंके यहाँ विचरते रहते हैं, जैसा आगे स्पष्ट है। ब्रह्मानन्दमें लयलीन होकर भी यह व्यसन क्यों रखे हैं? इसका कारण यह है कि बिना भक्तिके आधारके जीवका ज्ञान एकरस स्थिर रह नहीं सकता। जैसे कपिलदेवको सगरके पुत्रोंपर, लोमशको भुशुण्डीपर और सनकादिकको जय-विजयपर क्रोध आ गया।

वि० त्रि०—जीवनोपयोगी न होनेपर भी जिस वस्तुके सेवनका जीवको अभ्यास पड़ जाता है, उसे व्यसन कहते हैं। जैसे किसीको अहिफेन (अफीम) खानेका व्यसन हो जाता है। अफीम कोई जीवनोपयोगी पदार्थ

नहीं है, पर जिसे उसका व्यसन लग जाता है, उसे बिना अफीमके कल नहीं। इसी भाँति सनकादिक ब्रह्मानन्दमें लीन रहनेवाले, महात्यागी दिगम्बर विचरनेवाले, उन्हें किसी साधनकी अपेक्षा नहीं, वे सर्वथा कृतकृत्य थे, फिर भी उन्हें एक व्यसन था। *'रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं।'* यह व्यसन महात्माओंका प्रकृतिसिद्ध है, यथा—**'व्यसनं श्रुतौ प्रकृतिसिद्धिमिदं हि महात्मनाम्'** और यह व्यसन इतना बढ़ा हुआ था कि प्रतिदिन सरकारके दर्शनके लिये अयोध्या आते थे, पर सुना कि अगस्त्यजीके यहाँ कथा होती है, तो आप दण्डकारण्य पहुँच गये।

रा० शं०—सनकादिकमें धाम, रूप, लीला और तदन्तर्गत नामकी निष्ठा दिखायी। *'दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं'* यह धाम, *'दरसन लागि कोसलाधीसा'* यह रूप, *'रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं'* यह लीला और इनके अन्तर्गत नाम भी आ गया।

तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ज्ञानी॥ ७॥
रामकथा मुनिबर* बहु बरनी। ज्ञानजोनि पावक जिमि अरनी॥ ८॥

अर्थ—हे भवानी! श्रीसनकादि मुनि वहाँ थे जहाँ ज्ञानी मुनिश्रेष्ठ श्रीकुम्भजजी थे॥ ७॥ मुनिश्रेष्ठने रामकथा बहुत कही जो ज्ञानको उत्पन्न करनेवाली है, जैसे अरणी लकड़ीसे अग्नि उत्पन्न होती है॥ ८॥

नोट—१ पाँड़ेजीका मत है कि 'अगस्त्यजी पञ्चवटीमें रामचरित कहते थे। कथामें प्रसंग आया कि श्रीरघुनाथजी राज्य करते हैं। यह सुनकर दर्शनार्थ आये। मा० म० का मत है कि 'जहाँ अगस्त्यजी इस बागकी कथा उसी दिन कह रहे थे वहाँ सनकादिक थे और कथा सुननेके उपरान्त उन्होंने देखा कि अभी कुछ दिन बाकी है, जाने योग्य समय है, यह जानकर देखने आये।

२—यहाँ 'सनकादिक' श्रोता बनकर अगस्त्यजीसे कथा सुनने आये; इसीसे सनकादिकको 'मुनि' और उनको 'मुनिवर' विशेषण दिया, नहीं तो अन्यत्र उनको भी मुनिवर कहा है। यथा—*'सुक सनकादि भगत मुनि नारद। जे मुनिबर बिज्ञान बिसारद॥'* (१। १८), *'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि.........'* इत्यादि। घटसम्भव—१। ३ (३) देखिये।

टिप्पणी—१ *'पावक जिमि अरनी'* इति। लकड़ी अग्नि उत्पन्न करके आप भी अग्निरूप हो जाती है। देखनेमें अग्नि और लकड़ी पृथक् देख पड़ती हैं, वैसे ही रामकथा और ज्ञान कहनेमें पृथक् देख पड़ते हैं, परंतु ज्ञान कथाके भीतर है अर्थात् दोनों एक ही है। कथाके भीतर ज्ञान कहनेका भाव अगस्त्यजीका यह है कि सनकादिक ज्ञानी हैं और रघुपति-चरितके व्यसनी हैं, इसीसे उन्होंने चरित कहा और उसीके भीतर ज्ञान कहा। अर्थात् कथा कहकर ज्ञानका निरूपण किया।

शीला—१ श्रीशिवजी श्रीरामकथाके आचार्य हैं और श्रीपार्वतीजी श्रवणरसिक हैं, अतएव शिवजी रामकथाको सर्वोपरि दिखाते हैं। ब्रह्मलीन, वेदपाठी, समदर्शी और विरक्त—ये चारों गुणसंयुक्त प्राणी सगुण-रामकथा-श्रवणके रसिक नहीं होते। इसीसे जब शिवजीने श्रीसनकादिकमें ये चारों गुण दिखाकर फिर उनको रामकथाका व्यसनी कहा तब पार्वतीजीको शंका हुई कि इन गुणोंसे युक्त प्राणी रामचरित्रका व्यसनी कैसे? अतः शंकाकी निवृत्तिके लिये कहा कि ये तो अगस्त्य महर्षिके साथ रहा करते हैं जो रामकथा कहा करते हैं; दूसरे, श्रीरामकथा ज्ञानको उत्पन्न करने और बढ़ानेवाली है, इसीसे मुनि कहा करते हैं और ये सुना करते हैं। २—*'पावक जिमि अरनी'* में उत्पन्न और वृद्धि दोनों भाव हैं। लकड़ीसे पहले अग्नि प्राप्त होती है फिर उसी लकड़ीसे वह बढ़ जाती है। ३—'अरणी' का दृष्टान्त देनेसे यह भी भाव निकलता है कि जैसे उसके रगड़नेसे अग्नि उत्पन्न होती है ऐसे ही उसके परस्पर कथन-श्रवण और सत्संगसे ज्ञान उत्पन्न होता है।

नोट—३ रामकथा सुनकर श्रीरामजीके दर्शनको आये, इससे जनाया कि रामचरितसे श्रीरामजीकी प्राप्ति होती है। चरित सुननेसे दर्शनकी लालसा होती है, यथा—*'सुनत फिरउ हरिगुन अनुबादा।.........एक लालसा उर अति बाढ़ी॥ रामचरन बारिज जब देखउँ। तब निज जनम सुफल करि लेखउँ।'* (११०। १२—१४)

* 'मुनि बहु बिधि बरनी'—(का०)।

दो०—देखि राम मुनि आवत हरषि दंडवत कीन्ह।
स्वागत पूँछि पीतपट प्रभु बैठन कहँ दीन्ह॥ ३२॥

अर्थ—मुनियोंको आते देख (दूरसे ही ज्यों ही वे देख पड़े) श्रीरामचन्द्रजीने उनको हर्षपूर्वक दण्डवत् की। स्वागत पूछकर प्रभुने उन्हें अपना पीताम्बर बैठनेके लिये (बिछा) दिया॥ ३२॥

टिप्पणी—१ *'हरषि दंडवत कीन्ह'* का भाव कि संसारमें संतमिलनका-सा दूसरा सुख नहीं है, यथा भुशुण्डिवाक्य—*'संत मिलन सम सुख जग नाहीं।'* इसीसे सनकादिक ऋषियोंके दर्शनसे प्रसन्नता हुई। (गुरुजनों आदिको हर्षपूर्वक प्रणाम करना ही चाहिये और जहाँसे दर्शन हो वहींसे करना चाहिये, यह पूर्व कई बार बताया जा चुका है। यह शिक्षा अपने आचरणद्वारा मर्यादापुरुषोत्तम दे रहे हैं। हर्षमें उत्साह, प्रेम, प्रसन्नता और पुलकादि सबका समावेश है।) २—*'स्वागत पूँछि'* अर्थात् पूछा कि अपना आगमन कहिये, कहाँसे आगमन हुआ? स्वागत पूछना लोक-व्यवहार है, अत: स्वागत पूछी। ३—*'पीतपट बैठन कहँ दीन्ह।'* पीतवस्त्र वेदरूप है, यह महाभारतमें लिखा है और सनकादिक भी वेदरूप हैं, यथा—*'रूप धरे जनु चारिउ बेदा।'* इसीसे उनको अपना पीतवस्त्र बैठनेको दिया, इसके अतिरिक्त और कोई वस्तु उनके बैठने योग्य न थी। [सनकादिकका व्यसन कह चुके, अब श्रीरामजीका व्यसन देखिये कि संतचरणरजकी प्राप्तिके लिये अपना पीताम्बर बिछा दिया। (मा० म०) और वीरकविजीका मत है कि बागमें टहलने गये थे, आसन विद्यमान न होनेसे पीताम्बर बिछाकर उनका विशेष सम्मान प्रकट किया।]

नोट—☞ वस्तुत: बात तो यह है कि *'नीति प्रीति परमारथ स्वारथु। कोउ न राम सम जान जथारथु॥'* (२। २५४) किसका कैसा सम्मान करना चाहिये यह भी वे ही जानते हैं। भगवान्‌के पीताम्बरसे बढ़कर क्या आसन परम सात्त्विक ऋषियोंके लिये हो सकता है? और ऋषियोंका इससे अधिक सम्मान क्या होगा?

कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई। सहित पवनसुत सुख अधिकाई॥ १॥
मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥ २॥
स्यामल गात सरोरुह लोचन। सुंदरता मंदिर भवमोचन॥ ३॥

अर्थ—श्रीहनुमान्‌जीसहित तीनों भाइयोंने दण्डवत् की और सबको बड़ा सुख हुआ॥ १॥ मुनि श्रीरघुनाथजीकी अतुलित छबि देखकर (उस छबिसमुद्रमें) डूब गये, मनको न रोक सके॥ २॥ श्यामल शरीर है, कमल-समान नेत्र हैं, सुन्दरताके घर और आवागमनके छुड़ानेवाले हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ *'कीन्ह दंडवत तीनिउ भाई।………'* इति। (क) श्रीरामजीके पीछे भाइयोंका दण्डवत् करना कहकर जनाया कि क्रमसे सबने दण्डवत् की—प्रथम श्रीरामजी, तब श्रीभरतजी, फिर श्रीलक्ष्मणजी तत्पश्चात् श्रीशत्रुघ्नजी और अन्तमें श्रीहनुमान्‌जीने दण्डवत् की। (ख) *'सुख अधिकाई'* का भाव कि जो सुख श्रीरामजीको हुआ उससे अधिक इन चारोंको हुआ; क्योंकि *'राम ते अधिक राम कर दासा।'* अथवा, अधिक सुख इससे कि इनके आनेसे सत्सङ्ग होगा।

२—*'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी।………'* इति। (क) 'मन न रोक सके' अर्थात् जो मन सदा ब्रह्मानन्दमें लवलीन रहता था, वह रामदर्शन छोड़कर फिर ब्रह्मानन्दकी ओर न जा सका। वे मनको ब्रह्मानन्दमें लीन न कर सके। [ज्ञान-बलसे मनको काबूमें रखनेका प्रयत्न किया पर वह स्थिर न रहा। (वै०)] (ख) यह ब्रह्मानन्दकी तोल हो गयी कि उसके रोकनेसे भी मन न रुका। (ग) रघुपति-छबिको *'अतुल'* कहा, उसका भाव भी खुल गया कि ब्रह्मानन्द इसके सामने कुछ न रह गया। श्रीजनकमहाराजका यह अनुभव है। यथा—*'देखे रामलखन निमेषैं बिथकित भईं………ब्रह्मानंदहृदय दरससुख लोचननि अनुभए उभय सरस राम जाने हैं।'* (गी० १। ५९)

वि० टी०—भाव कि ये लोग ब्रह्मज्ञानी तो थे ही, रामरूपमें ब्रह्मसाक्षात्कारका आनन्द अनुभव करके इस प्रकारसे तल्लीन हो गये कि उन्हें अपने शरीरकी सुध-बुध भूल गयी।

रा० शं०—*'अतुल'* का भाव कि प्रभुके साथ भरतादिको भी देखा पर प्रभुमें अधिक छबि देखी—*'तदपि अधिक सुखसागर रामा।'*

वै०—*'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी'* इति। *'अतुल'* का भाव कि मुनि विष्णु क्षीरशायी श्रीमन्नारायणादि भगवद्रूपोंको देखे हुए हैं इससे उन सबकी शोभा जानते हैं, उनमेंसे किसीकी भी छबिको राम-छबिकी तुल्यताका न पाया। इसीसे *'मन सके न रोकी।'* *'भए मगन'* इति। इसीसे दण्डवत् करनेपर आशीर्वाद न दिया और न कुशलप्रश्न किया।

नोट—*'……छबि अतुल बिलोकी। भए मगन……'* इति। यह छबि ही ऐसी है। मनु-शतरूपा, पुष्पवाटिकामें सखी, नगरदर्शनमें सखाओं, वनमें मगवासियों और मुनियोंकी दशाएँ पाठक देख ही चुके हैं। जनक महाराजकी दशासे मिलान कीजिये—*'मूरति मधुर मनोहर देखी। भयेउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥'* (१। २१५। ८) *प्रेममगन मन जानि नृपु करि बिबेकु धरि धीर। बोलेउ……* (२१५)*……सहज बिरागरूप मन मोरा। थकित होत जिमि चंद चकोरा॥'* (३)*……इन्हहि बिलोकत अति अनुरागा। बरबस ब्रह्मसुखहि मनु त्यागा॥'* (५)

टिप्पणी—३ *'स्यामल गात सरोरुह लोचन………'* इति। (क) भवमोचन दो प्रकारसे होता है। एक तो यह कि श्रीरामजी उसे देखें, दूसरे यों कि वह श्रीरामका दर्शन करे। अतः यहाँ भवमोचन कहनेके लिये ये दोनों बातें पहले ही कह दीं। श्यामलगातसे श्रीरामजीका दर्शन और कमलनेत्रसे श्रीरामजीका उनको देखना जनाया। दोनोंसे भवमोचन होता है, यथा—*'जड़ चेतन जग जीव घनेरे। जे चितये प्रभु जिन्ह प्रभु हेरे॥ ते सब भए परमपद जोगू।'* (२। २१७। १-२)

रा० पा०—*'सुंदरता मंदिर'* अर्थात् त्रैलोक्यकी शोभा यहीं इकट्ठी है। रूपादिकी आसक्तिसे भवमें पड़ना होता है, अतः *'सुंदरता मंदिर'* कहकर *'भवमोचन'* कहा। अर्थात् इनके दर्शनमात्रसे भवभयका नाश हो जाता है।

प० प० प्र०—*'सुंदरता मंदिर'* का अर्थ 'सुन्दरताका पूजा-स्थान, जिनकी पूजा स्वयं सुन्दरता करती है' ऐसा करना उचित है। *'छमहु क्षमामंदिर दोउ भ्राता।'*(१। २८५। ६) में विस्तारसे लिखा गया है। श्रीसीताजी *'सुंदरता कहुँ सुंदर करई'* वैसे ही ये सुन्दरताके पूज्य हैं।

एकटक रहे निमेष न लावहिं। प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं॥ ४॥
तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा। स्रवत नयन जल पुलक सरीरा॥ ५॥
कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे। परम मनोहर बचन उचारे॥ ६॥

अर्थ—मुनि एकटक देखते रह गये, पलक नहीं मारते (क्योंकि पलक मारनेसे दर्शनमें विक्षेप होगा)। (इधर) श्रीरामजी हाथ जोड़े माथा नवा रहे हैं॥ ४॥ उनकी *'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा'* दशा देखकर श्रीरामजीके नेत्रोंसे आँसू निकलने लगे और शरीर पुलकित हो गया॥ ५॥ प्रभुने हाथ पकड़कर मुनिवरोंको बिठाया और अत्यन्त सुन्दर वचन बोले॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'प्रभु कर जोरे सीस नवावहिं'*, यह मुद्रा श्रीरामजीको प्रिय है, यथा—*'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहैं। ततकाल तुलसीदास जीवन जन्म को फल पाइहैं॥'* इति। (विनय० १३५) इसीसे वे स्वयं इस मुद्राको करते हैं। [पं०—नरनाट्यकीमर्यादाकी रक्षा कर रहे हैं। दूसरे, हाथ जोड़े प्रणाम करनेसे पीताम्बरपर बैठनेकी प्रार्थना भी झलक रही है।]

२ *'तिन्ह कै दसा देखि रघुबीरा………'* इति। प्रथम मुनियोंके प्रेमकी दशा कही। उनकी प्रेमदशा देख श्रीरामजी स्वयं प्रेमदशाको प्राप्त हो गये। [*'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा'* दोनोंमें लगता है।] प्रथम श्रीरामजीको *'स्यामल गात सरोरुह लोचन'* कह आये, उस श्याम शरीरमें पुलकावली होने लगी और कमलनेत्रसे जल बह चला।

वै०, वि० टी०—*'स्रवत नयन जल पुलक सरीरा।'*—भक्तिकी पराकाष्ठाका बड़ा उत्तम चित्र गोस्वामीजीने

यहाँपर खींच दिया है। भक्तिमें लीन होकर प्राणीके नेत्रोंसे अश्रु बह निकलते हैं, शरीर रोमाञ्चित हो जाता है, देहदशा विह्वल और मन एकाग्र हो रहता है। इस दशाको नारदसूत्रमें इस तरह कथन किया है—

अथातो भक्तिं व्याख्यास्याम एकस्मै परमप्रेमरूपा अमृतस्वरूपा च।
यल्लब्ध्वा पुमान्सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति॥
यत्प्राप्य न किंचिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति।
यज्ज्ञात्वा मत्तो भवति स्तब्धो भवत्यात्मारामो भवति॥

अर्थात् अब इसके अनन्तर मैं भक्तिका स्वरूप कथन करता हूँ। एकहीपर उत्कट तथा नित्यप्रेम ही उसका स्वरूप है, जिसके प्राप्त होनेपर जीव कृत-कृत्य होता है, मुक्त होता है और तृप्त होता है। जिसके प्राप्त होनेपर वह किसी बातकी भी इच्छा नहीं करता, शोक नहीं करता, द्वेष नहीं करता, किसी वस्तुमें आसक्त नहीं होता और न उसका किसी विषयमें उत्साह होता है। जिसका स्वरूपज्ञान होनेपर वह मस्त हो जाता है, स्थिर और आत्मानन्द हो जाता है।

करु०—यह दशा पराभक्तिकी है। इससे यह सार निकलता है कि 'जब ब्रह्मज्ञान तदात्मक हो तब श्रीरामचन्द्रजीकी शोभा-छबि-रसका (जीव) अधिकारी होता है। यथा—'**ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥**'(गीता १८। ५४)

टिप्पणी—३ *'कर गहि प्रभु मुनिबर बैठारे'* इति। भाव कि पीताम्बर बिछानेपर मुनि न बैठे तब प्रभुने जाना कि हमारे पीताम्बरपर बैठनेमें उन्हें संकोच हो रहा है; इसीसे हाथ पकड़कर बिठाया।—[मुनि सोचते थे कि ये सच्चिदानन्द परात्पर ब्रह्म हैं, ये अपने भक्तवात्सल्यके कारण लोकसंग्रहार्थ इतनी नम्रता करते हैं कि पीताम्बर बिछा दिया पर हम मर्यादा कैसे तोड़ें। हाथ पकड़कर बिठानेमें वात्सल्यकी सीमा ही देख पड़ती है। (पं०) मुनि पीताम्बरपर क्यों न बैठे? अधर्मके डरसे। वा, शोभा देख छबिसमुद्रमें डूबे हैं, देह-सुध ही नहीं है तब बैठे कौन? (मा० म०)]।

मा० म०—*'परम मनोहर बचन उचारे'* इति। पीताम्बरपर बैठनेपर भी मुनि (उसी प्रेमदशामें मग्न रहे) कुछ न बोले तब उनके आनन्दविक्षेपके लिये अनेक प्रकारके (मनको हरण कर लेनेवाले मधुर) वचन बोले।

आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा॥ ७॥
बड़े भाग पाइअ* सतसंगा। बिनहिं प्रयास होहि भव भंगा॥ ८॥

अर्थ—हे मुनीश्वर! सुनिये। आज मैं धन्य हूँ। आपके दर्शनसे पाप नष्ट हो जाते हैं॥ ७॥ बड़े भाग्यसे सत्संग प्राप्त होता है, उससे बिना परिश्रम भवका नाश होता है॥ ८॥

वि० त्रि०—*'आजु………'* इति। *'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं। देखि नगर बिराग बिसरावहिं॥'* अतः नित्यके आने-जानेवालेके लिये *'आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा।'* कहना बनता नहीं। बात यह मालूम पड़ती है कि ब्रह्मलोकनिवासी महर्षिगण नित्य सरकारका दर्शन करने आते थे, अपना दर्शन देने नहीं आते थे। अलक्षित रूपसे आये, दूरसे दर्शन किया, चले गये। नित्य सरकारसे सत्कार पाना उचित नहीं समझते थे। आज वरदान लेना है; अतः अवकाशका अवसर देखकर प्रकटरूपसे आये।

टिप्पणी—१ भाव कि जन्म-मरणका छूटना अत्यन्त दुस्तर है, सो आपके दर्शनमात्रसे अनायास छूट जाता है। पर आपका दर्शन बड़े भाग्यसे मिलता है (वह आज हमको बिना किसी यत्नके मिल गया, अतः मैं धन्य हूँ)। २—दर्शनसे पापका नाश होता है। यथा—*'संत दरस जिमि पातक टरई।'* (४। १७। ६), *'मुख*

* पाइय—(का०, १८१७, १८१८, १८४२, बं० पा०)। 'पाइब'—भा० दा०।

देखत पातक हरै परसत करम बिलाहिं। बचन सुनत मन मोहगत पूरब भाग मिलाहिं॥' (वै० सं० २४) पापके नाशसे सत्संग मिलता है और सत्संगसे भवभंग होता है। *'सत्संगति संसृति कर अंता।'*

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजी अब साकेतको जाना चाहते हैं; अतः सत्संगकी प्रशंसा की कि इसके प्रभावसे भवनाश होता है।

नोट—☞ सत्संग-महिमा-वर्णनमें 'सार अलंकार' है। *'धन्य'* और *'बड़े भाग पाइअ'* के भाव निम्न उद्धरणोंसे स्पष्ट हो जाते हैं—यथा—*'सतसंगति दुर्लभ संसारा। निमिष दंड भरि एकउ बारा॥'* (१२३। ६), *'आजु धन्य मैं धन्य अति जद्यपि सब बिधि हीन। निज जन जानि राम मोहि संत समागम दीन॥'* (१२३), *'गिरिजा संत समागम सम न लाभ कछु आन। बिनु हरि कृपा न होइ सो गावहिं बेद पुरान॥'* (१२५), *'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइए। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए॥'* (वि० १३६)

नोट—स्मरण रहे कि 'संत' से वेषधारी मात्र न समझना चाहिये। गोस्वामीजीने वेषको संत नहीं कहा है, जिनमें संतके लक्षण हों, वही संत है। भगवान्‌ने भी आगे *'संतन्हके लच्छन सुनु भ्राता।'* (३७। ६) से *'द्विज पद प्रीति धर्म जनयित्री।'* (३८। ६) तक लक्षण कहकर कहा है कि *'ए सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥'* ऐसे संतका दर्शन पातक हर लेता है और दर्शकको पवित्र करता है। श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि सङ्गरहित, जगत्‌के पवित्रकर्ता, शान्त और ब्रह्मनिष्ठ सत्पुरुष जिनके हृदयमें सर्वपापहारी भगवान् विराजमान हैं, वे तीर्थोंको भी पवित्र कर देते हैं। यथा—**'साधवो न्यासिनः शान्ता ब्रह्मिष्ठा लोकपावनाः। हरन्त्यघं तेऽङ्गसङ्गात् तेष्वास्ते ह्यघभिद्धरिः॥'**(९। ९। ६) (ये वाक्य श्रीभगीरथजीके हैं जो उन्होंने गङ्गाजीसे यह कहनेपर कि 'पापी लोग अपने पाप मुझमें धोयेंगे, मैं उन पापोंको कहाँ धोऊँगी', उत्तरमें कहे थे।) भगवान्‌के प्रेम-परा-भक्तिपरायण संतोंमें यह शक्ति है। पूर्वकाण्डोंमें इनके प्रमाण कई बार आ चुके हैं।

दो०—संत संग अपबर्ग कर कामी भव कर पंथ।
कहहिं संत कबि कोबिद श्रुति पुरान सदग्रंथ*॥ ३३॥

शब्दार्थ—**सदग्रंथ**—वे ग्रन्थ जिनसे संसारमें प्रवृत्ति न हो। जो ग्रन्थ संसारमें प्रवृत्त करनेवाले हैं, वे असद्ग्रन्थ हैं।

अर्थ—'संतका संग मोक्षका मार्ग है और कामीका संग भवका मार्ग है।' संत, कवि, पण्डित, वेद, पुराण सभी सद्ग्रन्थ ऐसा कहते हैं॥ ३३॥

टिप्पणी—१ भागवतमें इसका प्रमाण है। कविसे नयी कविताके बनानेवाले, कोविदसे शास्त्र पढ़नेवाले और सद्ग्रन्थसे मुनियोंकी संहिताएँ सूचित कीं। यहाँ 'शब्द प्रमाण' अलंकार है।

नोट—१ कविकोविदका प्रयोग अर्बीके आलिम-फाजिलका-सा है। २—*'संत संग अपबर्ग कर पंथ'* का भाव यह है कि संतोंकी संगति करनेसे वे हरिचरित्र सुनाते हैं, जिससे मोह दूर होता है, श्रीरामचरणारविन्दमें प्रेम होता है और हरिभजन होनेसे मनुष्य भवपार होता है। यथा—*'बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥'* (६१) *'बिनु हरिभजन न भव तरिय यह सिद्धांत अपेल।'* (१२२), *'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥'* (१२९। ६) पुनश्च, *'जब द्रवै दीनदयाल राघव साधु संगति पाइए। जेहि दरस परस समागमादिक पापरासि नसाइए॥ जिन्ह के मिले दुख सुख समान अमानतादिक गुन भये। मद मोह लोभ बिषाद क्रोध सुबोध ते सहजहि गये॥ अनुराग जो निजरूप तें जग तें बिलक्षन देखिये। संतोष सम सीतल सदा दम देहवंत न लेखिये॥ निर्मल निरामय एकरस तेहि हर्ष सोक न ब्यापई। त्रैलोक पावन सो सदा जाकी दसा ऐसी भई॥'* (वि० १३६)

संत उस मार्गपर चलकर पहुँच चुके हैं, अतः वे वहाँ पहुँचा सकते हैं, वे उस मार्गको जानते हैं। *'कामी भव कर पंथ'* का भाव कि कामी पुरुषोंका संग करनेसे विषयवार्त्ता होगी, वे हरिकथासे, हरिभजनसे

* सब ग्रन्थ—का०।

मनको हटा देंगे क्योंकि उनको यह कब भावे, यथा—'*क्रोधिहि सम कामिहि हरि कथा। ऊसर बीज बये फल जथा॥*' (५। ५८। ४) विषयासक्त होनेसे हरिविमुख होकर बारंबार संसारमें जन्म-मरण होगा। कामी उसी मार्गपर चलायेंगे जिसपर वे चल रहे हैं।

☞ इससे मिलता हुआ श्लोक श्रीमद्भागवतमें यह है—'**सङ्गो यः संसृतेर्हेतुरसत्सु विहितोऽधिया। स एव साधुषु कृतो निःसङ्गत्वाय कल्पते॥**'(भा० ३। २३। ५५) अर्थात् जो संग अज्ञानवश असत्पुरुषोंके साथ होनेसे संसारका कारण होता है, वही सत्पुरुषोंके साथ किया जानेसे मोक्षसाधक वैराग्यका कारण हो जाता है। (ये भगवती देवहूतिजीके वाक्य हैं)।

'*कामी भव कर पंथ*' इति। भगवान्‌ने उद्धवजीसे भी कहा है कि स्त्रियों तथा उनके साथियोंका साथ करनेसे पुरुषको जैसा क्लेश और बन्धन होता है, वैसा किसी दूसरेसे नहीं। अत: आत्मवान् पुरुषको चाहिये कि स्त्रियों और उनके साथियोंका साथ दूरहीसे छोड़ दे। यथा—'**स्त्रीणां स्त्रीसङ्गिनां सङ्गं त्यक्त्वा दूरत आत्मवान्।'''''''न तथास्य भवेत् क्लेशो बन्धश्चान्यप्रसङ्गतः। योषित्सङ्गाद् यथा पुंसो यथा तत्सङ्गिसङ्गतः॥**' (भा० ११। १४। २९-३०) यही बात भगवान् कपिलदेवजीने मातासे कही है। वे कहते हैं कि सन्मार्गमें चलते समय यदि इसका कहीं शिश्नोदरपरायण पुरुषोंसे समागम हो जाता है तो उनका अनुगमन करनेके कारण यह नारकी योनियोंमें पड़ता है। अत: उन मूढ़ और स्त्रियोंके क्रीड़ामृगरूप अत्यन्त शोचनीय असत्पुरुषोंका संग कभी न करना चाहिये। यथा—'**यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः। आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥**'(भा० ३। ३१। ३२) '**तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु। सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥**'(३४) इसके आगे प्राय: एक शब्दके भेदसे पूरा श्लोक वही है जो (भा० ११। १४। ३०) में है। '***क्लेशो***' की जगह '*मोहो*' है। फिर आगे कहा है कि स्त्री और स्त्रीका संग योगीके लिये नरकका खुला द्वार ही कहा है। '**वदन्ति या निरयद्वारमस्य॥**'(३९)

सुनि प्रभु बचन हरषि मुनि चारी। पुलकित तन अस्तुति अनुसारी॥ १॥

जय भगवंत अनंत अनामय। अनघ अनेक एक करुनामय॥ २॥

अर्थ—प्रभुके वचन सुनकर चारों मुनि हर्षित हुए और पुलकितशरीर होकर स्तुति करने लगे॥ १॥ हे भगवन्त! आपकी जय हो। आपका अन्त नहीं, आप (अविद्या आदि) रोगोंसे रहित हैं, निष्पाप हैं, आप अनेक हैं और एक भी हैं तथा करुणामय हैं॥ २॥

वि० त्रि०—प्रभुके वचन सुनकर चारों मुनि ऐसे हर्षित हो गये कि उन्हें पुलक हो गया। कारण यह कि स्वयं प्रभुने उन्हें संत मान लिया, अब वे वस्तुत: संत हो गये। संतकी पदवी बहुत बड़ी है। उसका सँभार बड़ा कठिन है। परंतु जब प्रभुने श्रीमुखसे संतकी पदवी दे दी, तब उस पदसे स्खलनका भय जाता रहा, अत: हर्षित हो उठे। स्वयं ग्रन्थकार वैराग्यसंदीपनीमें लिखते हैं—'***को बरनै मुख एक तुलसी महिमा संत की। जिनके बिमल बिबेक सेषमहेस न कहि सकत॥***' '***महि पत्री करि सिंधु मसि, तरु लेखनी बनाइ। तुलसी गनपति सों तदपि महिमा लिखी न जाइ॥***'

टिप्पणी—१ '*सुनि प्रभु बचन'''''''''अस्तुति अनुसारी*' इति। (क)—ये हमारी बड़ाई कर रहे हैं, हमको बड़ाई दे रहे हैं। (अगस्त्यजीने कहा ही है कि '*संतत दासन्ह देहु बड़ाई।*' (३। १३। १४) यह समझकर आप भी उनकी स्तुति करने लगे (ख)—मुनियोंने स्तुति करनेमें अपने मन, वचन, कर्म—तीनों प्रभुमें लगा दिये—मनसे हर्षित, वचनसे स्तुति और तनसे पुलकित।

वै०—प्रभुकी परावाणीने उस स्थानमें जा प्राप्त होकर जहाँ मुनियोंकी चित्तकी वृत्ति समाधिमें स्थित थी, चित्तको खींच लिया, जिससे इन्द्रियोंमें चैतन्यता आ गयी। अत: वचन सुनकर हर्ष हुआ। हर्षित होनेका भाव कि अर्चित श्रीविग्रहस्वरूपोंके सम्मुख ही अन्तर्धान करना वर्जित है और यहाँ तो साक्षात् परब्रह्मके सम्मुख हम अन्तर्द्धान कर खड़े रहे, स्तुति आदि न की, यह बड़ा अपराध है, इससे प्रभुने हमें बचा दिया। प्रभुकी कृपा विचारकर हर्ष हुआ।

टिप्पणी—२ *'जय भगवंत अनंत अनामय।.........'* इति। (क) प्रथम *'जय भगवंत'* कहनेका भाव कि सनकादिक ज्ञानी भक्त हैं। भक्त भगवान्‌को भगवन्त कहते हैं, कर्मकाण्डी परमात्मा कहते हैं और ज्ञानी ब्रह्म कहते हैं। इसीसे सनकादिकने प्रथम 'भगवन्त' कहा। (ख) भगवन्त कहकर अनन्त कहनेका भाव कि—*'भगवंत'* का अर्थ है षडैश्वर्ययुक्त, छः ऐश्वर्यवाला। अतः *'भगवंत'* कहनेसे जाना गया कि उनमें छः ही गुण हैं, अर्थात् इस सम्बोधनसे गुणोंका अन्त सूचित हुआ। इसीसे उसके पीछे कहा कि आप अनन्त हैं, अर्थात् आपमें ये छः गुण ही नहीं वरन् अनन्त गुण हैं। (ग) *'अनघ'* हो अर्थात् आपमें पाप नहीं है। अविद्यारूपी रोग पापसे होता है, पाप नहीं है अतः अविद्या नहीं, इसीसे *'अनामय'* कहा। (घ) [करु०—षड्विकार जन्म, वृद्धि, विवर्णता, क्षीणता, जरा और मरण—ये ही आमय (=रोग) हैं। इनसे रहित होनेसे अनामय कहा] *'अनेक एक।'* रूपोंसे अनेक हैं, यथा—**'अनेकरूपरूपाय विष्णवे प्रभविष्णवे'** (यह सारा जगत् आपका रूप है) यथा—*'सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'* (४। ३), *'सचराचर रूप राम भगवान।'* (६। १५), *'ब्यापक बिस्वरूप भगवाना।'* (१। १३। ४) अतः अनेक कहा। *'एक'* हो अर्थात् आपका-सा गुण, रूप और स्वभाव किसीमें नहीं है, आप अद्वितीय हैं; अथवा, अन्तमें एक आप ही हैं। आप एक हैं और एकसे अनेक हो जाते हैं, अर्थात् अनेक अवतार धारण करते हैं। अवतार धारण करनेमें मुख्य कारण करुणा है—**'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्।'** सो आप करुणामय हैं, जीवोंपर करुणा करके अवतार लेते हैं।

नोट—बाल, अयोध्या और अरण्यमें इन विशेषणोंके भाव विस्तारसे लिखे जा चुके हैं।

जय निर्गुन जय जय गुनसागर। सुखमंदिर सुंदर अति नागर॥ ३॥
जय इंदिरारमन जय भूधर। अनुपम अज अनादि सोभाकर॥ ४॥

अर्थ—हे निर्गुण (रूप राम)! आपकी जय! हे सद्गुणसिंधु अर्थात् सगुणरूप राम! आपकी जय हो! जय हो!! आप सुखधाम, अत्यन्त सुन्दर और अत्यन्त नागर (चतुर) हैं॥ ३॥ हे लक्ष्मीपति! आपकी जय हो। हे पृथ्वीके धारण करनेवाले अर्थात् रक्षक! आपकी जय हो। आप उपमारहित हैं, जन्मरहित हैं, अनादि हैं और शोभाकी खानि हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ *'जय निर्गुन जय जय गुनसागर।.........'* इति। (क) निर्गुणके साथ एक और सगुणके साथ दो बार *'जय'* कहकर सूचित किया कि सनकादिकका प्रेम निर्गुणसे सगुणमें अधिक है, इसीसे वे ब्रह्मका निरूपण करना छोड़कर सगुण रूपको देखते हैं। *'जय जय'* शब्दमें आदरकी वीप्सा है। विशेष *'जय सगुन निर्गुन रूप रूप अनूप।'* (१३। छंद १) में देखिये। [निर्गुण रूपसे किसीका हित नहीं। वह केवल योगियोंको अनुभवगम्य है और सगुणरूप स्वाभाविक जीवोंको कृतार्थ करनेवाला है, अतः दो बार जय कहा। (वै०)] (ख) प्रथम निर्गुण-सगुण-रूप कहकर तब *'सुखमंदिर.........'* कहनेका भाव कि आप दोनों रूपसे सबको सुख देते हैं, आपके दोनों रूप सुखके समूह हैं। निर्गुण केवल सुखमन्दिर है और सगुणरूप सुन्दर और अति नागर भी है। *'अति नागर'* से वचन-रचनामें परम प्रवीण जनाया, यथा—*'जयति बचन रचना अति नागर'*—(नागरसे सभी प्रकारकी चतुराई जनायी—*'अति नागर भवसागर सेतु'*)। भाव यह कि आपकी वचन-रचनासे मेरी समाधि छूट गयी। पुनः, 'अति नागरता' खर-दूषण, विराध, हिरण्यकशिपु आदिके वधमें देखी गयी है। *'खरदूषन-बिराध-बध पंडित।'* (करु०)

रा० प्र०—*'इंदिरारमन'* अर्थात् मोक्षादि श्री आपमें ही रमी हैं। आगे वर माँगना है अतः लक्ष्मीपति कहा। [इन्दिरारमणसे जनाया कि विष्णुरूपसे जगत्‌का पालन आप ही करते हैं। (वै०)]

नोट—*'इंदिरापति, भूधर'* कहकर सूचित किया कि आप ही अनेक अवतार लेते हैं, यथा—*'मीन कमठ सूकर नरहरी। बामन परसुराम बपु धरी॥ जब जब नाथ सुरन्ह दुख पायो। नाना तन धरि तुम्हइँ नसायो॥'* (६। १०९) अतः इन्दिरापति, भूधर आदि सब आप ही हैं। कच्छप और वराहरूपसे पृथ्वीको धारण किये हैं।

मा० म०—श्रीरामचन्द्रजीका श्रीजानकीजीसे वियोग हो चुका है; इसीसे यहाँ सीतारमण न कहकर *'इंदिरारमन'* कहा।

२ खर्रा—**भूधर**=पृथ्वीके धारण करनेवाले अर्थात् वाराहरूप आप ही हैं। **अज**=जन्म-प्रवाहरहित। स्वेच्छा-आविर्भाव जन्म नहीं कहलाता, कर्मग्रस्त जन्म कहलाता है।

प० प० प्र०—इस स्तुतिमें छः बार 'जय' शब्द देकर सूचित किया कि षड्‌विकार, षडूर्मि, षड्‌रिपुओंसे रक्षा चाहनेके लिये छः बार कहा है।

नोट—☞ इस स्तुतिमें *'अनेक एक', 'निर्गुन गुनसागर'* और *'नाम अनेक,* अनाम', ये विशेषण ऐसे आये हैं जिनमें 'विरोधाभास' अलंकार है। विरोधी विशेषणोंद्वारा ऋषि सूचित करते हैं कि आप परात्पर परब्रह्म हैं, जीवोंमें ये विरोधी गुण नहीं हो सकते। ईश्वरकी यही तो एक बड़ी विलक्षणता है। ईशावास्योपनिषद्‌में यह परमेश्वरकी अद्भुत सत्ता स्पष्टरूपसे कही गयी है। यथा—**'तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके। तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः॥'**(५) अर्थात् वह चलता है और नहीं भी चलता। वह दूर है और समीप भी है। वह सबके अन्तर्गत है और वही इस सबके बाहर भी है।

ज्ञाननिधान अमान मानप्रद। पावन सुजस पुरान बेद बद॥ ५॥
तज्ञ कृतज्ञ अज्ञता भंजन। नाम अनेक अनाम निरंजन॥ ६॥

अर्थ—आप ज्ञानके समुद्र, मानरहित और दूसरोंको मान-बड़ाई देनेवाले हैं, आपका पवित्र सुन्दर यश वेद और पुराण गाते हैं॥ ५॥ आप तत्त्वके ज्ञाता, उपकारके माननेवाले, अज्ञानके नाशक हैं। आपके नाम अनेक हैं और फिर भी आप अनाम हैं, अर्थात् आपका कोई नाम नहीं है (यह आपकी विलक्षणता है) और आप मायाविकाररहित हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'ज्ञाननिधान अमान मानप्रद'*……' इति। **निधान**=पात्र। अमान हो अर्थात् आपको पुजानेकी इच्छा नहीं है—**'अमानी मानदो मान्यः'**—(विष्णुसहस्रनाम)। ज्ञाननिधान कहकर अमान कहनेका भाव कि मान ज्ञानका बाधक है, यथा—*'ज्ञान मान जहँ एकौ नाहीं।'* (३। १५। ७) *'मान ते ज्ञान पान ते लाजा—नासहिं बेगि……।'* (३। २१) [*'अमान मानप्रद।'* भाव कि 'आप किसीसे चाहें कि कोई आपकी बड़ाई करे, आपकी उन्नति बड़ाईसे हो' यह बात नहीं है, भला जब आपको कोई जानता ही नहीं कि स्तुति भी कर सके तब आपको कोई मान क्या देगा? आप तो अमान हैं। (पं० रा० व० श०)] (ख) *'पावन सुजस पुरान*……' इति। भाव कि आपका सुयश ऐसा पवित्र है कि उसको गाकर वेद-पुराण अपना कल्याण चाहते हैं। वेद-पुराण भी मूर्तिधारी हैं इसीसे अपना कल्याण चाहते हैं।—(मिलान कीजिये—*'निज गिरा पावनि करन कारन रामजसु तुलसी कहेउ।'* (बा० ३६१) यह पवित्र करनेवाला है।) २—(क) **तज्ञ**=तत्त्वज्ञ, **'तत्त्वं ज्ञायत इति तज्ञः।'** [सब शास्त्रोंका लक्ष्यभूत जो तत्त्व पदार्थ है, उसके यथार्थ ज्ञाता—(खर्रा)] **कृतज्ञ 'कृतं ज्ञायत इति कृतज्ञः।' निरंजन**=मायारूपी मलसे रहित। (ख) ऋषियोंने अनेक सहस्रनाम कहे हैं। इससे *'अनेक'* कहा। *'अनाम'* का भाव कि नाम चार प्रकारके होते हैं—गुण, क्रिया, जाति और यदृच्छा (=माता आदिका धरा हुआ); पर आपका नाम इन चारों विधियोंसे बाहर है; क्योंकि निरक्षरातीत है। निरञ्जनसे देही-देह-विभाग-रहित जनाया। —(**अंजन**=दाग, विकार, माया, दोष)। (वै०) जैसे शरीरमें स्थित जीव उस शरीरके नामसे पुकारा जाता है, वैसे ही चराचरमात्रमें स्थित होनेसे ब्रह्महीके वे सब नाम हुए। इस तरह आपके नाम अनेक हैं और सबसे अलग होनेसे आपका कोई नाम नहीं है। निरञ्जन कहनेसे *'सीयराममय सब जग जानी',* यह वाक्य मिथ्या होता है, अतएव आगे कहते हैं कि आप *'सर्व*……' हैं।

सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय। बससि सदा हम कहुँ परिपालय॥ ७॥
द्वंद बिपति भवफंद बिभंजय। हृदि बसि राम काम मद गंजय॥ ८॥

अर्थ—यह सब जगत् आप ही हैं, आप सबमें व्याप्त हैं, सबके हृदयरूपी घरोंमें आप सदा निवास करते हैं, हमारा सदा पालन कीजिये॥ ७॥ दुःख-सुख, हर्ष-शोकादि द्वन्द्वोंकी विपत्ति और भवजालको काट दीजिये। हे राम! हृदयमें बसकर काम और मदका नाश कीजिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय। बससि'* इति। अर्थात्—(क) विराट्-रूपसे सब आप ही हैं, परमात्मारूपसे सबमें व्यापक और सगुणरूपसे सर्व-आलयमें वास करते हैं। अथवा, (ख) विराट्-रूपसे सब आप ही हैं, कारणरूपसे सर्वगत अर्थात् सबसे भिन्न हैं और सूक्ष्मरूपसे अन्तर्यामी होकर सबके हृदयमें वास करते हैं। अथवा, (ग) जब एकसे बहुत होते हैं तब आप सर्व हैं, यथा—'**एकोऽहं बहु स्याम्।** ' जब मायायुक्त होते हैं तब भिन्न हैं। और जब ईश्वर (और) जीव हैं तब सबके उरालयमें बसते हैं। [पं०, शिला—**सर्ब उरालय**=शिवजीके हृदयरूपी घरमें।]

वै०—*'सर्ब सर्बगत सर्ब उरालय',* यही भाव हनुमान्‌जीके '**देहबुद्धित्वदासोऽहं जीवबुद्धित्वदंशकम्। आत्मबुद्धित्वमेवाहमिति मे निश्चला मतिः**' इन वचनोंमें हैं। भाव कि देहबुद्धि रहनेपर दास जानकर, जीवबुद्धि होनेपर अंश और आत्मबुद्धि होनेपर अपना अङ्ग जानकर हमारी रक्षा कीजिये। आत्मबुद्धिसे सब आप ही हैं, जीवबुद्धि होनेसे सर्वगत हैं और देहबुद्धि होनेपर सबके उरालय आप हैं—ऐसा हम समझते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'द्वंद बिपति भवफंद बिभंजय।'* द्वन्द्व विपत्ति अर्थात् अविद्यारूपी विपत्तिके कारण जो संसाररूपी फाँसी है, उसे तोड़िये। [भवफंद=काल, कर्म, गुण, स्वभाव। (खर्रा) अहंता=ममता। मैं और मेरा आदि दो बन्धन हैं, यही प्रभु और जीवमें दो अंगुलका बीच है, जो भुशुण्डिमोहके सम्बन्धमें कहा है। (रा० प्र०)]। (ख) *'हृदि बसि'* का भाव कि बिना आपके कामादि दोषोंका नाश असम्भव है। अभी कामादि इसमें बसते हैं।—(पुनः, भाव कि अन्तर्यामीरूपसे तो आप सबमें बसते ही हैं, पर उससे कामादि नाश नहीं होते, यथा—*'अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥'* अतः आप अपने सगुण धनुर्धररूपसे बसिये।' *'तब लगि हृदय बसत खल नाना। लोभ मोह मच्छर मद माना॥ जब लगि उर न बसत रघुनाथा। धरे चाप सायक कटि भाथा॥'* (५। ४७। १-२) देखिये।) (ग) द्वन्द्व विपत्ति माया है। उसका नाश कहा। फिर *'मद गंजय'* कहकर मदका नाश कहा। तत्पश्चात् प्रेमाभक्ति माँगते हैं—*'प्रेम भगति अनपायनी देहु……।'* इससे सिद्ध हुआ कि सनकादिक मुनियोंने सबसे दुर्लभ पदार्थ माँगा। यथा—*'सब ते सो दुर्लभ सुरराया। रामभगति रत गत मद माया॥'*

दो०—परमानंद कृपायतन मन* परिपूरन काम।
प्रेम भगति अनपायनी देहु हमहि श्रीराम॥ ३४॥

अर्थ—आप परमानन्द और कृपाके स्थान हैं। आप मनसे पूर्णकाम हैं। हे श्रीराम! आप हमें अपनी निश्चल प्रेमभक्ति दीजिये॥ ३४॥

नोट—*'परमानंद'* इति। श्रीरामजी परमानन्द रूप हैं, यह उनका स्वरूप ही है। यथा—*'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥'* (१। ११६), '**आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।** तैत्ति० ३। ६।' श्रीसनकादिकजीके आगमनपर कहा था कि *'ब्रह्मानंद सदा लय लीना।'* चारों *'मुनि रघुपति छबि अतुल बिलोकी। भए मगन मन सके न रोकी॥……एकटक रहे निमेष न लावहिं……।'* अर्थात् इस 'परमानन्दस्वरूपका दर्शन करते ही ब्रह्मानन्द भाग गया और वे परमानन्दमें मग्न हो गये। वह परमानन्द हृदयमें बस जानेसे 'परमानन्द' विशेषण स्वाभाविक ही स्तुतिमें आ गया। यह विशेषण देकर प्रेमभक्तिका वर माँगनेका भाव कि अब ऐसी कृपा हो कि हम चारों भाई अब इस परमानन्दमें प्रेमभक्तिद्वारा निरन्तर मग्न रहें।

टिप्पणी—१ (क) *'परमानंद कृपायतन……।'* प्रेम भक्ति दुर्लभ है, मुनि उसे माँगना चाहते हैं, इसीसे भगवान्‌को 'परमानन्द' कहकर तब भक्ति माँगी। (ख) *'कृपायतन'* का भाव कि भक्ति दो प्रकारसे मिलती है, एक तो सत्कर्मसे, यथा—*'जप जोग धर्म समूह ते नर भगति अनुपम पावई।'* (आ०); दूसरे कृपासे। जो सत्कर्मसे मिलती है उसका अन्त है; क्योंकि जब सत्कर्मके फलका अन्त होगा तब भक्तिका अन्त हो जायगा और जो भक्ति कृपासे मिलती है उसका अन्त नहीं है, क्योंकि कृपाका अन्त नहीं है,

* मन पर पूरन काम-(का०)। अर्थात् मनसे परे और पूर्णकाम।

यथा—'*जासु कृपा नहिं कृपा अघाती।*' ('अनपायिनी' का भाव कि प्रेमभक्ति कभी-कभी होकर आगे नहीं भी रह जाती, यह बात न होने पावे, वह आजन्म अविचल बनी रहे। वह बिना कृपाके सम्भव नहीं है) (ग) 'प्रेमभक्ति' माँगनेसे सिद्ध हुआ कि ये प्रेमी भक्त हैं। 'हमहिं' से जनाया कि चारों भाइयोंने यह वर माँगा। प्रेमभक्ति सब भक्तियोंमें श्रेष्ठ है, इसीसे इसको माँगा।

देहु भगति रघुपति अति पावनि। त्रिबिध ताप भवदाप नसावनि॥ १॥

प्रनतकाम* सुरधेनु कलपतरु। होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु॥ २॥

अर्थ—हे रघुपति! आप अपनी अत्यन्त पवित्र, तीनों तापों और भवके अभिमानको नाश करनेवाली भक्ति दीजिये॥ १॥ शरणागतोंकी कामनाके (पूर्ण करनेके लिये) कामधेनु और कल्पवृक्षरूप प्रभो! प्रसन्न होकर यह वरदान दीजिये॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) सनकादिकने ऊपर दोहेमें भक्ति माँगी और अब इस चौपाईमें फिर उसीको माँगते हैं, क्योंकि भक्ति सब साधनोंका फल है—'*जहँ लगि साधन बेद बखानी। सब कर फल हरि भगति भवानी॥*' इसीसे बार-बार माँगते हैं। (ख) '*अति पावनि*' का भाव कि पापियोंको पवित्र करती है। पवित्रताका फल आगे कहते हैं कि त्रितापादि उनको नहीं व्यापते। ['भवदाप'। कोई भगवत्-सम्मुख होकर भवपार होना चाहता है तब संसार कहता है कि देखें हमें छोड़कर यह कहाँ जा सकता है—यह संसारदर्प है—(पं० रा० व० श०)।]

२ (क) '*प्रनतकाम सुरधेनु कलपतरु*' भक्तिके विशेषण हैं। (ख) कामधेनु कहकर कल्पवृक्ष कहनेका भाव कि कामधेनु मनोरथ पूरा करती है, परन्तु सेवा कराती है और कल्पवृक्ष निर्हेतु मनोरथ पूर्ण करता है, जो शरणमात्र हुए हैं, सेवा नहीं की है आप उनके भी मनोरथ पूर्ण करते हैं। पुन: कामधेनु जंगम है और कल्पवृक्ष स्थावर है अर्थात् एक जगह स्थिर है। तात्पर्य कि दास कल्पवृक्षके पास जाय तब उसका मनोरथ पूर्ण होता है, जो जन उसके पास न जा सके तो कामधेनु चलकर उसका मनोरथ पूर्ण करती है। ऐसी ही आपकी भक्ति है। (ग)—'*होइ प्रसन्न दीजै*' का भाव कि बिना भगवान्‌के प्रसन्न हुए यह वर नहीं मिलता। (रा० प्र०—बार-बार माँगनेसे उसकी परम अभिलाषा जनायी।) (घ)—'*प्रभु*' अर्थात् वर देनेको आप समर्थ हैं। (ङ) ☞ आपकी भक्ति ऐसी है और आप जैसे हैं सो सुनिये, उसे आगे कहते हैं।—यहाँ द्वितीय निदर्शना अलंकार है।

पं० रामकुमारजी '*प्रनतकाम सुरधेनु*·······' को भक्तिका विशेषण मानते हैं। पूर्व भी इसपर विचार किया जा चुका है। मेरी समझमें तो यह प्रभुके लिये ही सम्बोधन है और मैंने वैसा ही अर्थ भी किया है। मनु-शतरूपाजीने भी ऐसे ही सम्बोधित किया है। यथा—'*सुनु सेवक सुरतरु सुरधेनू।*' (१। १४६। १) जो भाव वहाँ कहे गये हैं, वे यहाँ भी हैं। मनुजीकी विनयमें भी '*सेवत सुलभ सकल सुखदायक*' है और वही चरण ज्यों-का-त्यों श्रीसनकादिककृत इस स्तुतिमें अगली अर्धालीमें है। जैसे वहाँ '*तौ प्रसन्न होइ यह बर देहू*' है वैसे ही कुछ हेर-फेरसे यहाँ '*होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बरु*' है। वहाँ सुरतरु प्रथम है और यहाँ सुरधेनु प्रथम है यह भेद अवश्य है। पर दोनों विशेषण हैं वही।

प्र० स्वामीजी कहते हैं कि जहाँ एक ही चरण या अर्धाली दूसरी जगह दुहराई हुई मिलती है वहाँ कविका आशय यह है कि वहाँ प्रत्येक जगह दूसरी जगहका कुछ-न-कुछ अध्याहार कर लेना चाहिये। मनुजीने '*जौ अनाथहित हम पर नेहू*' कहकर '*तौ प्रसन्न होइ यह बरु देहू*' कहा है। अत: यहाँ भी '*जौ अनाथहित हम पर नेहू*' का अध्याहार कर लेना होगा।

भवबारिधि कुंभज रघुनायक। सेवत† सुलभ सकल सुखदायक॥ ३॥

मन संभव दारुन दुख दारय। दीनबंधु समता बिस्तारय॥ ४॥

आस त्रास इरिषादि निवारक। बिनय बिबेक बिरति बिस्तारक॥ ५॥

* प्रनत कामधुक धेनु—(का०)। कामधुक=कामधेनु।

† सेवक—(रा० गु० द्वि० गुटका), सेवत—(का०, भा० दा०)।

अर्थ—हे रघुनायक! भवसागरके सोख लेनेको आप अगस्त्यरूप हैं*। सेवा करनेमें आप सुलभ हैं और सब सुखोंके देनेवाले हैं॥ ३॥ मनसे उत्पन्न कठिन दुःखोंका नाश कीजिये। हे दीनबन्धु! हममें समदृष्टिका विस्तार कीजिये अर्थात् शत्रु, मित्र, उदासीन, लोहा, कंचन, मिट्टीमें समदृष्टि हो॥ ४॥ आप आशा, डर और ईर्ष्यादिके निवारण करनेवाले हैं। विनम्रता एवं विशेष नीति, विवेक और वैराग्यके विस्तार करनेवाले हैं॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'भवबारिधि कुंभज.........'* इति। (क) भाव कि भवसमुद्र सोखकर आप परलोक बनाते हैं और इस लोकमें सेवा किये जानेमें सुलभ हैं तथा सुखदाता हैं। (ख) *'सेवत सुलभ'* का भाव कि यद्यपि वे बहुत बड़े हैं, *'बिधि हरिहर बंदित पद रेनू'* हैं तथापि उनकी सेवा सुलभ है, प्रणाम मात्रसे वे प्रसन्न हो जाते हैं, केवल छल छोड़कर स्मरण करते ही कृपा करते हैं। यथा—*'भलो मानिहैं रघुनाथ जोरि जो हाथ माथो नाइहै। ततकाल तुलसीदास जीवन जनमको फल पाइहै।' 'छलहि छाँड़ि सुमिरे छोह किये ही है'* (वि० १३५), *'कूर कुटिल खल कुमति कलंकी। नीच निसील निरीस निसंकी। तेउ सुनि सरन सामुहे आए। सकृत प्रनाम किहें अपनाए।', 'नत करत निहाल को।'* (वि० १८०) जो *'सकल सुखदाता'* है वह *'सेवत सुलभ'* नहीं होता और जिसको सेवा सुलभ है, वह *'सकल सुखदाता'* नहीं होता। पर आपमें दोनों गुण हैं। [सेवत सुलभ=सेवा करते ही आपके सेवकको सब कुछ सुलभ हो जाता है, सुखसे मिलता है, क्योंकि आप सम्पूर्ण सुखोंके दाता हैं। (रा० प्र०)]

२- *'मन संभव दारुन दुख.........'* इति। मनसे उत्पन्न दारुण दुःख कौन हैं? मनमें शत्रु, मित्र, मध्यस्थ, ये तीन भाव जो आते हैं ये ही दुःखके कारण हैं। इनके हरणसे समताका विस्तार होगा। यथा—*'जो निज मन परिहरै बिकारा। तौ कत द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा। शत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हे बरिआई। त्यागब गहब उपेक्षनीय अहि हाटक तृन की नाई॥ असन बसन पसु बस्तु बिबिध बिधि सब मनि महँ रह जैसे। सरग नरक चर अचर लोक बहु बसत मध्य मन तैसे॥ बिटप मध्य पुत्रिका सूत्र महँ कंचुक बिनहि बनाये। मन महँ तथा लीन नाना तन प्रगटत अवसर पाये॥ रघुपति भक्ति बारि छालित चित बिन प्रयास नहिं सूझै। तुलसिदास कह चिदबिलास जग बूझत बूझत बूझै॥'* (वि० १२४) [*'मन संभव दुख=कामादि,* यथा—*'मनजात किरात निपात किये', 'मनोभवपीरा।'* दारयके साहचर्यसे मन-सम्भव दुःखको हाथी और रघुनाथजीको सिंह जनाया। (दारना=विदीर्ण करना) (रा० प्र०)।

पं० रा० व० श० जी कहते हैं कि विवेकीको एक ही दुःख है, वह अविद्याका। वह चाहता है कि अविद्यासे निवृत्त हो जाय और भगवान्‌में लगे, उसे संसारी दुःख नहीं है। अविवेकीको अनेक दुःख हैं। बिना विचारे ही संसार रमणीय है नहीं तो वह तो बड़ा भयंकर है।—**'व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन। बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।'** 'दीनबंधु' में भाव कि हम मनसम्भव दुःखसे दीन हो रहे हैं। *'समता बिस्तारय।'* भाव कि सबमें हम समता देखने लगें जिससे हमें कामादिके विषम शरादिकी विषमता न लगे। (रा० प्र०)]

प० प० प्र०—समस्त दुःखोंका कारण मन ही है। मनुष्य, देवता, आत्मा, ग्रह, कर्म अथवा काल कोई भी सुख-दुःखका कारण नहीं है। मन ही संसारचक्रमें भ्रमण कराता है। वही गुणोंकी वृत्तियाँ उत्पन्न कराता है। गुणोंसे सात्त्विक, राजस और तामस कर्म होते हैं। कर्म और गुणोंके संगसे विषय-सेवन करनेके कारण मनुष्य भवबन्धनमें पड़ता है। इस प्रकार मन ही संसार-चक्रका कारण है। यथा **'नायं जनो मे सुखदुःखहेतुर्न देवताऽऽत्मा ग्रहकर्मकालाः। मनः परं कारणमामनन्ति संसारचक्रं परिवर्तयेद्यत्।'** (भा० ११। २३। ४३) **मनो गुणान्वै सृजते बलीयस्ततश्च कर्माणि विलक्षणानि। शुक्लानि कृष्णान्यथ लोहितानि तेभ्यः सवर्णाः सृतयो भवन्ति॥ ४४॥.........मनः स्वलिङ्गं परिगृह्य कामान् जुषन्निबद्धो गुणसंगतोऽसौ॥ ४५॥'**

टिप्पणी—३ (क) *'आस त्रास इरिषा।'* आशा मित्रकी, भय शत्रुका और ईर्ष्या बराबरवालेसे। (ख)—*'बिस्तारक'* का भाव कि इनके विस्तारसे आशा, त्रास और ईर्ष्यादि दोषोंका निवारण हो जायगा।

* 'समअभेदरूपक' और 'द्वितीय निदर्शना' अलंकार।

भूप मौलि मनि मंडन धरनी। देहि भगति संसृति सरि तरनी॥ ६॥

मुनि मन मानस हंस निरंतर। चरन कमल बंदित अज संकर॥ ७॥

अर्थ—हे राजाओंके शिरोमणि! हे पृथ्वीके भूषण वा पृथ्वीको (राक्षसरहित करके) भूषित करनेवाले। अपनी भक्ति दीजिये, जो संसार-नदीके लिये नावरूप है॥ ६॥ हे मुनियोंके मनरूपी मानसरोवरमें सदा वास करनेवाले हंस! आपके चरणकमल ब्रह्मा और शिवजीसे निरन्तर वन्दित हैं॥ ७॥

टिप्पणी—१ (क) 'भूप मौलि मनि' का भाव कि आपने सब राजाओंको अपने-अपने राज्यपर बिठाया, जो राक्षसोंके उपद्रवसे उजड़े हुए थे उनको बसाया। भूपशिरोमणि कहकर भक्तिका वर माँगनेका तात्पर्य यह कि राजाओंको इस बातकी लज्जा रहती है कि हमारेसे कोई विमुख न जाय, इसीसे राजशिरोमणि कहकर माँगा जिसमें अवश्य मिले। (ख) संसार समुद्र है, उसको 'सरि' कहनेका भाव कि भक्तिके सामने वह नदीके समान तुच्छ हो जाता है। तात्पर्य कि भक्ति भव-समुद्रको नदीकी तरह पार कर देती है। (ग) ☞ यहाँतक भक्तिको चार विशेषण दिये—*'अति पावनि', 'त्रिबिधताप भवदाप नसावनि', 'प्रनतकाम-सुरधेनु कलपतरु'* और *'संसृति सरि तरनी।'* *'अति पावनि'* विषयीके लिये, *'त्रिबिध ताप भवदाप नसावनि'* आर्तके लिये, *'प्रणत काम सुरधेनु……'* अर्थार्थीके और *'संसृति सरि तरनी'* मुमुक्षुके लिये हैं।

रघुकुलकेतु सेतु श्रुति रक्षक। काल करम सुभाउ गुन भक्षक॥ ८॥

तारन तरन हरन सब दूषन। तुलसिदास-प्रभु त्रिभुवन भूषन॥ ९॥

अर्थ—आप रघुकुलके पताका अर्थात् रघुकुलमें सबसे श्रेष्ठ हैं, वेदमर्यादाके रक्षक और काल-कर्म-स्वभाव-गुणके भक्षण करनेवाले हैं॥ ८॥ आप सबको तारनेवाले हैं और स्वयं तरे हुए हैं, सब दोषोंके दूर करनेवाले हैं, त्रैलोक्यभूषण हैं और तुलसीदासके स्वामी हैं॥ ९॥

टिप्पणी—१ *'रघुकुलकेतु* और सेतु *श्रुति रक्षक'* को साथ-साथ कहनेका तात्पर्य यह है कि वेदमर्यादाकी रक्षाके हेतु आप रघुकुलकेतु हुए। पुनः, भाव कि जो मुनिमनमानसमें वास करते हैं और जिनके चरणोंका ध्यान ब्रह्मा और शिव करते हैं वे ही आप रघुकुलमें अवतीर्ण हुए। किस निमित्त! श्रुतिसेतु रक्षाके लिये। तात्पर्य कि राक्षसोंको मारकर आपने अपने धर्मकी रक्षा की और अब राज्यासनपर बैठकर आपने कालकर्म-गुणस्वभावकृत दोषोंका नाश किया। [अर्थात् आप अपने सेवकोंके अकालिक कष्ट, दुष्ट कर्म और दुष्ट स्वभावको नष्ट करनेवाले हैं। (नं० प०)] यथा—*'काल-कर्म-सुभाव-गुन-कृत दुख काहुहि नाहिं'*—दोहा २२ में देखो। सेतु श्रुति=श्रुतिकृत धर्मसेतु। 'रक्षक' कहकर सूचित किया कि इसे आप टूटने नहीं देते, जो तोड़ता है उसे दण्ड देते हैं।

नोट—*'तारन तरन……'* इति। इसके लोगोंने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। पं० रामकुमारजी 'तारण' का अर्थ केवट और तरणका 'नाव' करते हैं। एक खर्रेमें वे यह अर्थ देते हैं—भगवत्-रूपसे तारनेवाले और भक्त रूपसे (भवप्रवाहसे) तरनेवाले अर्थात् आप भगवत् और भक्तस्वरूप हैं। इस तरह वे इस चरणका भाव यह कहते हैं कि आप दोषीके दोषोंको हरकर उसको दोषरहित करके आप तारण-तरणरूप होकर उसे तारते हैं।

श्रीपंजाबीजीका मत है कि 'तारण-तरण=जो भवसागरसे तरे हुए हैं एवं जो दूसरोंको तारनेवाले हैं उनके लिये भी आप ही जहाज हैं। यह पद श्लिष्ट है।'

श्रीकरुणासिंधुजीके मतानुसार इस चरणका भाव यह है कि आप 'तारण' 'तरण' और 'तारणतरण' इन तीनों प्रकारके मनुष्योंको सम्पूर्ण दूषणोंसे छुड़ा देते हैं। **तारन**=जो वेद-शास्त्र पढ़ते-पढ़ाते हैं और दूसरोंको उपदेश देकर भवसागरसे छुड़ा देते हैं। **तरण**=जो आप ही निदिध्यास करके अपनी मुक्ति कर लेते हैं, इन्हें दूसरोंसे कुछ प्रयोजन नहीं रहता। **तारन तरन**=जो स्वतः जीवन्मुक्त हैं और दूसरोंको भी तार देते हैं।

पं० विजयानन्द त्रिपाठीजी लिखते हैं कि काल, कर्म, गुण, स्वभावके फन्देमें फँसे हुए जीवमात्र दुःख पा रहे हैं, यथा—*'फिरत सदा माया कर प्रेरा। काल कर्म स्वभाव गुन घेरा।' 'काल कर्म गुण स्वभाव सबके सीस तपत'* परंतु *'राम नाम महिमा की चरचा चले चपत।'* क्योंकि सरकार काल कर्म गुण स्वभावके

भक्षक हैं। इनकी कृपासे ही जीव काल, कर्म, गुण, स्वभावके घेरेसे निकल सकता है और जो निकल चुके हैं, वे भी इन्हींकी कृपासे निकल पाये हैं। इसीलिये तारण-तरण कहते हैं। यहाँ 'तीर्ण' शब्दका तद्भव रूप *'तरन'* है। सरकारके सौन्दर्यकी छटा हृदयमें बस गयी है, यथा—***'एकटक रहे निमेष न लावहिं।'*** अतः त्रिभुवन भूषन कह रहे हैं।

नोट—☞ *'तारन तरन'* शब्द अयोध्याकाण्डमें भी आया है। यथा—***'बारक राम कहत जग जेऊ। होत तरन तारन नर तेऊ।'*** (२। २१७। ४) श्रीनंगे परमहंसजी अर्थ करते हैं कि आप संसाररूपी समुद्रसे अपने भक्तोंके नौकारूप तरक हैं।

टिप्पणी—२ (क) ***'तुलसिदास प्रभु'*** इति। सनकादिक मुनियोंके मुखसे यह वचन कहलाकर गोस्वामीजी अपना स्वामी-सेवक भाव पुष्ट करते हैं।—***'भाविक अलंकार'*** है। (ख) ***'त्रिभुवन भूषन'*** इति। पूर्व श्रीरामजीको पृथ्वीका भूषण कहा अर्थात् निशिचर संहार करनेसे 'महिमंडन' कहा था और अब राज्यपर बैठकर त्रिलोकीको सुखी किया, यथा—***'रामराज बैठे त्रैलोका। हरषित भए गए सब सोका॥'*** अतः अब **'त्रिभुवनभूषण'** कहा।

गौड़जी—जो प्रार्थना भगवान् शंकरने राज्यावरोहण-समय की थी वह राज्यावरोहणके अनन्तर पूर्ण हुई। प्रकारान्तरसे सनकादिकी इस स्तुतिमें इस स्थलपर उसीकी ओर इशारा है।

प० प० प्र०—यह पचीसवीं स्तुति है और पचीसवाँ नक्षत्र शतभिषक (शततारका) है। इसमें सौ तारे हैं। (**'वृत्तं स्याच्छतसंमितैः' रत्नमालाग्रन्थे**)। पर नक्षत्रमण्डलके नकशेमें केवल एक ही तारा देख पड़ता है। वैसे ही इस स्तुतिमें भी अनेक अनन्त और एक आदि संख्यावाचक शब्द हैं ही। शतशब्द अनन्तवाची है। त्रिपाठीजीका ध्यान इस ओर नहीं गया, इसीसे उन्हें २८ स्तुतिसंख्या पूरी करनेके लिये ८४ प्रसंगोंको छोड़कर आगे जाना पड़ा, वसिष्ठकृत स्तुति आदिको छोड़ना पड़ा।

आकारवृत्त चक्र-सा है। स्तुतिका आरम्भ ***'भगवत्'*** शब्दसे हुआ और समाप्ति ***'प्रभु त्रिभुवन भूषन'*** में हुई। प्रभु और भगवान् एक ही हैं, इस प्रकार मण्डल पूरा हुआ, बीच-बीचमें छः प्रकारके भागोंको भी सूचित किया है। यथा—*'ज्ञान निधान', 'पावन सुजस', 'सर्व सर्बगत सर्बउरालय'* (यह ऐश्वर्य है); ***'भवबारिध कुंभज', 'आस त्रास इर्षादि निवारक'*** (यह वैराग्य है); ***'इन्दिरारमण, सुरधेनु, कल्पतरु'*** (यह श्री है); ***'सेतु-श्रुतिरक्षक'*** (यह धर्म है)। इस प्रकार स्तुति भी चक्राकार सिद्ध हुई। सुदर्शनमें छः आरे होते हैं।

नक्षत्रका देवता वरुण हैं जो जल-देवता हैं। और इस स्तुतिमें *'गुन सागर'* भववारिधि, संसृति-सरि, मुनि, मन, मानस (सर) तथा इन्दिराके सम्बन्धसे क्षीरसागर आदि मुख्य जलाशयोंके सभी प्रकारोंका निर्देश है।

नक्षत्रकी फलश्रुति है। *'जग हित निरुपधि साधु लोग से'* और यहाँ सनकादिकजी साधु हैं ही जिन्होंने अनेकोंका हित किया है।

दो०—बार बार अस्तुति करि प्रेम सहित सिरु नाइ।
ब्रह्मभवन सनकादि गे अति अभीष्ट* बर पाइ॥ ३५॥

अर्थ—प्रेमसहित बारंबार स्तुति करके और माथा नवाकर अत्यन्त मनोवाञ्छित वर पाकर सनकादि मुनि ब्रह्मलोकको गये॥ ३५॥

टिप्पणी—१ स्तुति करना वचनकी भक्ति है, प्रेम करना मनकी भक्ति है और सिर नवाना तनकी भक्ति है। तात्पर्य कि तन, मन, वचनसे श्रीरामजीकी भक्ति करके ब्रह्मलोकको गये। ☞ सनकादिका बारंबार वर माँगना लिखते हैं,—[स्तुति करके वर माँगा, मिला नहीं अतः फिर स्तुति करने लगे फिर वर माँगा, इत्यादि। जब वर मिल गया तब स्तुति समाप्त कर दी। इसीसे बार-बार स्तुति और वर माँगना लिखा]।

(१) ***प्रेमभगति अनपायनी देहु हमहिं श्रीराम।*** (३) ***होइ प्रसन्न दीजै प्रभु यह बर।***
(२) ***देहु भगति रघुपति अति पावनि।*** (४) ***देहु भगति संसृति सरि तरनी।***

* अभिष्ट—(भा० दा०, का०)। अभीष्ट—(रा० गु० द्वि० गुटका)।

बार-बार माँगनेसे ही इसे *'अति अभीष्ट बर'* कहा। पर श्रीरामजीका वर देना नहीं लिखते, सनकादिकका वर पाना लिखते हैं। इससे यह सूचित किया कि श्रीरामजीने मनसे वर दिया और सनकादिकजी इस बातको जान गये। ☞ इस कथा-प्रसंगसे सूचित किया कि सनकादिक ऐसे तत्त्वज्ञोंको भी प्रेमकी अपेक्षा रहती है (खर्रा)। श्रीमद्भागवतमें श्रीसूतजीने कहा है कि भगवान्‌में गुण ही ऐसे हैं कि उनसे निवृत्ति-परायण श्रीशुकदेवजी, श्रीसनकादिकजी ऐसे आत्माराम और जीवन्मुक्त मुनि भी आकर्षित होकर उनकी अहैतुकी भक्ति किया करते हैं। यथा—**'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थंभूतगुणो हरिः॥'**(भा० ३। ७। १०)

रा० प्र०—*'बार बार'* से चारों भाइयोंकी पृथक्-पृथक् स्तुति करना और वर माँगना भी हो सकता है। **'अति अभीष्ट'**=अनपायिनी भक्ति।

सनकादिक बिधि लोक सिधाए। भ्रातन्ह रामचरन सिरु नाए॥ १॥
पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं। चितवहिं सब मारुतसुत पाहीं॥ २॥
सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी। जो सुनि होइ सकल भ्रम हानी॥ ३॥

अर्थ—श्रीसनकादिक मुनि ब्रह्मलोकको चल दिये तब भाइयोंने श्रीरामजीके चरणोंमें सिर नवाया॥ १॥ सब भाई प्रभुसे पूछनेमें संकोच कर रहे हैं और पवनसुत हनुमान्‌जीकी ओर देखते हैं॥ २॥ सब प्रभुके मुखकी वाणी सुनना चाहते हैं, जिसे सुननेसे सब भ्रम दूर हो जाते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ ☞ श्रीसनकादिकजीका ब्रह्मलोकको जाना दो बार लिखा—*'ब्रह्मभवन सनकादि गे'* और *'सनकादिक बिधि लोक सिधाये।'* दोहेमें ब्रह्मलोकको जाना लिखा था और यहाँ यह लिखते हैं कि जब वे चले गये तब भाइयोंने प्रणाम किया। यहाँ दूसरी बार जानेकी बात नहीं कह रहे हैं वरन् तीनों भाइयोंके प्रणामका समय बता रहे हैं। [*'बार बार अस्तुति………'* इस दोहारूपी कमलकी पुरइन *'सनकादिक बिधि लोक सिधाए'* यह अर्धाली है। अतः इसमें सनकादिकके ब्रह्मलोक जानेकी चर्चा है। (वि० त्रि०)] प्रणामका कारण आगे लिखते हैं कि कुछ प्रश्न करना चाहते हैं।

२ *'पूछत प्रभुहि सकल सकुचाहीं।………'* इति। सम्मुख प्रश्न करनेमें ढिठाई समझते हैं, जैसा कि आगे स्पष्ट है—*'करउँ कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥'* इसीसे प्रश्न करनेमें संकोच है:—[श्रीहनुमान्‌जीकी ओर देखते हैं क्योंकि प्रभुने इनको अपना 'धनी' और अपनेको उनका ऋणिया कहा है तथा हनुमान्‌जी उनके बहुत मुँह लगे वा ढीठ हैं। और, रा० प्र० के मतानुसार हनुमान्‌जी परम अन्तरंग कृपापात्र हैं, अतः उन्हींसे प्रश्न कराना चाहते हैं। पर वस्तुतः हनुमान्‌जी भी ऐसे ढीठ नहीं हैं जैसा कि आगेकी चौपाइयोंसे स्पष्ट है। भरतजी बहुत संकोची हैं—*'महूँ सनेह सँकोच बस सनमुख कहे न बैन।'* शत्रुघ्नजी उनके अनुगामी हैं, अतः वे स्वामीके सामने प्रश्न कब कर सकते हैं! रहे लक्ष्मणजी, सो सेवामें अवश्य ढीठ हैं पर प्रश्न करनेमें सदा बड़े विनम्र देख पड़ते हैं।]

३ *'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी'* इति। यद्यपि वेदशास्त्रोंमें सन्त-लक्षण सुने हैं तथापि निःसंदेह होनेके लिये श्रीमुखकी वाणी सुनना चाहते हैं। प्रभु मुखकी वाणीसे कल्पवृक्ष, कामधेनु, त्रिपुरारि उत्पन्न हुए हैं ऐसी वह वाणी है। इसकी उत्प्रेक्षा गीतावलीमें है,—*'जनु इन बचननि ते भये सुरतरु तापस तिपुरारि।'* (१। १९। ९)

पं० रा० व० श०—प्रभुने कहा कि *'संतसंग अपबर्ग कर………'* अतः उनकी वाणी सुनना चाहते हैं क्योंकि आपकी वाणी प्रमाण है, वेद ही है—*'निगम निज बानी',* आप जो कहते हैं उसपर आरूढ़ भी रहते हैं।

वै०—भ्राताओंने मुनियोंकी प्रेमदशा देखी; ऐसे शुद्ध रामानुरागी होकर भी बारंबार उन्होंने भक्ति माँगी। इससे संदेह हुआ कि इनमें भी पूर्ण भक्ति नहीं है। अतः लालसा हुई कि पूर्णभक्तोंके लक्षण जानें।

वीर—तीनों भाइयोंका हार्दिक अभिप्राय यह है कि स्वामीको मेरी ओरसे पूछनेकी बात प्रकट न हो, प्रश्न हनुमान्‌जी करें। इस आशयसे उनकी ओर निहारना 'युक्ति अलंकार' है।

वि० त्रि०—श्रीसनकादिकका जैसा सत्कार सरकारने किया वैसा और किसीका करते देखा नहीं गया, इनको हर्षित होकर दण्डवत् किया, स्वागत पूछी, बैठनेके लिये अपना उत्तरीय वसन बिछा दिया, हाथ पकड़कर उसपर बिठाया, उनके पादार्पणसे अपनेको धन्य माना, तथा उनकी स्तुति सन्तरूपसे की। अतः तीनों भाइयोंके हृदयमें सन्तके लक्षण जाननेकी जिज्ञासा एक साथ ही उदय हुई। तब सनकादिके जाते ही प्रश्न करनेके लिये प्रणाम किया, परंतु सन्त शब्द इतना प्रसिद्ध है कि उसके विषयमें प्रश्न करनेमें सभी संकुचित हो गये, लगे हनुमान्‌जीका मुख देखने। भाव यह कि आप ही हम लोगोंकी ओरसे पूछिये। यद्यपि बात खुली नहीं कि क्या पूछना है, पर हनुमान्‌जीसे इङ्गितज्ञके लिये, सनकादिकके जाते ही तीनों भाइयोंके मनमें एक साथ जिज्ञासा उठनेसे स्पष्ट हो गया कि इन्हींके सम्बन्धमें प्रश्न है और इनका जो इतना सत्कार सरकारद्वारा हुआ है, तो उन गुणोंके विषयमें प्रश्न है, जिनके कारण ये इतने पूज्य समझे गये। इतना ही नहीं, हनुमान्‌जी संकोचका कारण भी समझ गये। इसीलिये सरकारके पूछनेपर कहते हैं कि भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं। यद्यपि पूछना सभी चाहते थे, पर हनुमान्‌जी केवल भरतजीका नाम लेते हैं, क्योंकि वे ही सबसे बड़े थे और जिज्ञास्य विषय एक ही था। इस भाँति ग्रन्थकारने *'संग परम प्रिय पवन कुमारा'* कहनेका साफल्य दिखलाया तथा हनुमान्‌जीकी बुद्धिमत्ता दिखलायी। यद्यपि हनुमान्‌जीने प्रश्न नहीं किया, पर उस संकोचको मिटा दिया, जिसके कारण वे पूछनेमें संकोच करते थे।

अंतरजामी प्रभु सभ* जाना। बूझत कहहु काह हनुमाना॥ ४॥
जोरि पानि कह† तब हनुमंता। सुनहु दीनदयाल भगवंता॥ ५॥
नाथ भरत कछु पूछन चहहीं। प्रश्न‡ करत मन सकुचत अहहीं॥ ६॥

अर्थ—अन्तर्यामी प्रभु सब जान गये और पूछते हैं कि हे हनुमान्! कहो, क्या बात है?॥ ४॥ तब हनुमान्‌जी हाथ जोड़कर बोले—हे दीनदयाल, भगवन्त! सुनिये॥ ५॥ हे नाथ! भरतजी कुछ पूछना चाहते हैं, पर प्रश्न करनेमें मनमें संकोच करते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'अंतरजामी प्रभु सभ जाना.......'* इति। सब भाई श्रीरामजीके संकोचसे न पूछ सके और उन्होंने हनुमान्‌जीसे प्रश्न कराना चाहा। इधर हनुमान्‌जी भी श्रीरामजीके अदबसे न बोल सके। यह सब बातें प्रभुने जान लीं। सब भाई हनुमान्‌जीसे प्रश्न कराना चाहते थे, अतः श्रीरामजीने हनुमान्‌जीसे ही प्रश्न किया कि क्या पूछते हो कहो। भाई प्रश्न करनेमें संकोच करते हैं, इससे उनसे न कहा।

२ (क) *'जोरि पानि कह तब.......'* इति। हाथ जोड़कर बोलना सेवकोंकी रीति है। (ख) *'दीनदयाल भगवंता।'* भाव कि जो ऐश्वर्यवान् हैं, वे ही दीनोंपर दया करते हैं। आप भगवंत हैं, इसीसे मुझ दीनपर दया की कि मेरे द्वारा भाइयोंको उपदेश किया चाहते हैं, इससे आपने मुझे भाइयोंसे अधिक बड़ाई दी।

३ *'नाथ भरत कछु पूछन चहहीं।'* इति। हनुमान्‌जी नीतिके अनुकूल भरतजीका पूछना कहते हैं। ये बड़े भाई हैं, इनके आगे छोटे भाई प्रश्न न कर सकेंगे।

पं० रा० व० श०—१—*'बूझत कहहु काह'* से जनाते हैं कि हनुमान्‌जीको भी पूछनेमें संकोच हो रहा था कि भाई होकर नहीं पूछते तब हम कैसे पूछें, यह जानकर प्रभुने स्वयं पूछा। २—प्रश्नमें संकोच यह था कि प्रश्न बन पड़े या न बन पड़े; प्रभुको कहनेमें संकोच न हो, हम अधिकारी हों या न हों, सेवकका प्रश्न ढिठाई न हो, जैसा आगे कहते हैं—*'करउँ.......'।*

गौड़जी—ये सभी लोग परम भागवत हैं और इन्हें भक्तोंका लक्षण पूछना है। भारी संकोचकी बात है, प्रभु भक्तवत्सल हैं, अवश्य ही भक्तकी प्रशंसा करेंगे। पूछकर स्वामीसे अपनी प्रशंसा कराना कितने बड़े संकोचकी बात है और सर्वथा अवाञ्छनीय है। सामने सनकादिकको अद्भुत भक्तिके परिचयसे बड़ा प्रोत्साहन हो रहा है कि श्रीमुखसे भक्तोंके लक्षण सुनें, पर पूछनेसे बनता नहीं, इसलिये हनुमान्‌जीका

* 'सब'। † 'तब कह'—(का०)। सम—(भा० दा०)। ‡ प्रश्न—(का०)।

मुँह ताकते हैं कि ये ज्यादा मुँह चढ़े हुए हैं और इधर हनुमान्‌जीकी भी हिम्मत नहीं पड़ती। अन्तमें इस हैस-बैसको प्रभु स्वयं पूछकर दूर कर देते हैं।

तुम्ह जानहु कपि मोर सुभाऊ। भरतहि मोहि कछु अंतर काऊ॥ ७॥
सुनि प्रभु बचन भरत गहे चरना। सुनहु नाथ प्रनतारति हरना॥ ८॥

अर्थ—हे कपि! तुम मेरा स्वभाव जानते हो। क्या कभी भी भरतजीसे मुझे कुछ भेदभाव है? अर्थात् उनसे मैं कभी कोई दुराव नहीं करता॥ ७॥ प्रभुके वचन सुनकर भरतजीने उनके चरण पकड़े (और बोले) हे नाथ! हे शरणागतके दु:ख हरनेवाले! सुनिये॥ ८॥

नोट—*'कपि'* इति। करुणासिंधुजीने यहाँ यह शंका की है कि 'हनुमान्‌जी तो अब मनोहर मनुज-शरीर धारण किये हैं तब 'कपि' क्यों कहा?' और समाधान करते हैं कि कपि=कं+पि=सुधा पीनेवाला अर्थात् ये नित्य भक्ति-सुधा पीते रहते हैं इससे कपि कहा। पर यह अर्थ क्लिष्ट है। मेरी समझमें कपि कहनेका कारण यह है कि उनकी जाति तो यही है। दूसरे, श्री १०८ रूपकलाजीसे यह भी सुना है कि श्रीहनुमान्‌जीका मुख वानरका ही है, यह उन्होंने नहीं छोड़ा। यही कारण है कि वानर-विदाईमें भी 'कपि' शब्द आया है, यथा—*'ब्रह्मानंद मगन कपि सबके प्रभुपद प्रीति।'* (१५) *'अस कहि कपि सब चले तुरंता।'* (१९। १०)

टिप्पणी—१ *'कछु अंतर काऊ'* यही बात प्रभुने नारदजीसे कही है, यथा—*'जानहु मुनि तुम्ह मोर सुभाऊ। जन सन कबहुँ कि करउँ दुराऊ॥'* २—*'भरत गहे चरना',* यह सुख और प्रेमके कारण कि जब मुझपर प्रभु श्रीरामजीकी असीम कृपा है। पुन:, इससे कि प्रभुने मुझे अपने बराबरका कहा पर मैं इस योग्य कहाँ, मैं तो आपके चरणोंका दास हूँ, यह समझकर चरण पकड़े। ३—*'प्रनतारति हरना'* कहकर जनाया कि मेरे प्रश्नके उत्तरमें जो आप कहेंगे उसे सुननेसे दासोंका दु:ख दूर होगा।

दो०—नाथ न मोहि संदेह कछु सपनेहु सोक न मोह।
केवल कृपा तुम्हारिहि *कृपानंद संदोह॥ ३६॥

अर्थ—हे नाथ! मुझे स्वप्नमें भी न कुछ संदेह है न शोक और न मोह है। हे कृपा और आनन्दके समूह! केवल आपकी ही कृपासे ऐसा है॥ ३६॥

टिप्पणी—१ शोक अज्ञानसे होता है। जब मोह नहीं है तब शोक कैसे हो सकता है। शोक विज्ञानसे दूर होता है, यथा—*'सोक नेवारेउ सबहि कर निज बिज्ञान प्रकास।'* (अ० १५६) अतएव शोक नहीं है, इस कथनसे सूचित हुआ कि भरतजीके हृदयमें विज्ञान है। २—मुझे संदेह, शोक, मोह नहीं है, इस कथनसे अभिमान प्रकट होता है इसीसे आगे कहते हैं कि *'केवल कृपा तुम्हारिहि.......।'* भाव कि श्रीभरतजी सन्देहादिका छूटना क्रियासाध्य नहीं मानते, यह नहीं मानते कि ये शास्त्रके पढ़ने-सुननेसे छूट सकते हैं, वरन् कृपासाध्य ही मानते हैं अर्थात् प्रभुकी कृपासे ही ये छूट सकते हैं, अन्यथा नहीं। ३—*'कृपानंद संदोह'* अर्थात् आप कृपाके पात्र वा समूह हैं, इसीमें मुझे आपकी कृपासे आनंद है।

गौड़जी—*'भरतहिं मोहि अंतर काऊ'* कहकर भगवान्‌ने भगवत् और भागवतमें अभेद कर दिया। प्रभु अपनी ओरसे अभेदता अनुभव करा देते हैं, उनकी असीम कृपा है। इसीलिये भक्तके मनमें 'शोक-मोह' स्वप्नमें भी फटक नहीं सकता—'**तत्र को मोह: क: शोक एकत्वमनुपश्यत:**'—(यजुर्वेदसंहिता अध्याय ४० मन्त्र ३)। भरतजी इसीपर कहते हैं कि आपकी कृपासे मुझे *'शोक-मोह'* नहीं है तो भी मैं सेवक हूँ और आप स्वामी हैं, स्वामीकी ओरसे 'तुम और नहीं हम और नहीं' की सदा अत्यन्त शोभन है,

* यहाँ तथा और भी कई ठौर भा० दा० ने 'कृ' को 'क्रि' लिखा है। इसी तरह 'च्छ' की जगह बहुत स्थलोंपर 'क्ष' लिखा है। का० में प्राय: 'कृ' 'च्छ' है।

परंतु सेवक तो कैवल्यपदका भी दास्यभावके सामने निरादर करता है, वह इस एकताके भावको स्वामीकी ओरसे महती कृपा और अपरिमिति इनाम मानता है। उसे लाभ वही होते हैं जो एकताके पदमें मिलते हैं, परंतु साथ-ही-साथ सेवक जीवके पदसे और जीवोंके लिये परमार्थका द्वार खुलवा देता है। उस महती भगवत्कृपाके परमोपहारका प्रसाद और जीवोंमें बाँटना आवश्यक समझता है। भरतजीके रूपमें भगवान्ने इस प्रकारके भक्तोंका आदर्शावतार दिखाया है। भरतजी इस एकत्वको देखते हुए भी परमार्थके भावसे प्रभुके श्रीमुखसे सन्तों और असन्तोंके लक्षण सुना चाहते हैं। इसके दो अभिप्राय हैं—एक तो भगवान्के श्रीमुखसे भागवतका स्तवन तो स्वयं अत्यन्त कल्याणकारी है। दूसरे, सन्तोंके प्रामाणिक लक्षण समझाकर सर्वसाधारणको सद्वृत्तिकी ओर प्रवृत्त करना और असन्तोंके लक्षण समझाकर असन्मार्गसे जिज्ञासु और साधकको बचाये रहना यह दो लाभ परमभागवत भरतजीके परोपकारी प्रश्नोंके उत्तरसे प्रसादके रूपमें मिलते हैं।

करौं कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक तुम्ह जन सुखदाई॥ १॥
संतन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुरानन्ह गाई॥ २॥
श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई। तिन्ह पर प्रभुहि प्रीति अधिकाई॥ ३॥
सुना चहौं प्रभु तिन्ह कर लच्छन। कृपासिंधु गुन ज्ञान बिचच्छन॥ ४॥
संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥ ५॥

अर्थ—हे दयासागर! मैं एक ढीठता (धृष्टता) करता हूँ। मैं आपका सेवक हूँ और आप (अपने) दासको सुख देनेवाले हैं (भाव कि जो मैं पूछता हूँ उसे कहकर मुझ सेवकको सुख दीजिये)॥ १॥ हे रघुराज! वेद-पुराणोंने सन्तोंकी महिमा बहुत प्रकारसे गायी है॥ २॥ फिर आपने भी अपने मुखसे उनकी बड़ाई की है और उनपर प्रभुका प्रेम भी बहुत अधिक है (कि अपना पीताम्बर बैठनेके लिये बिछा दिया)॥ ३॥ हे प्रभो! मैं उनके लक्षण सुनना चाहता हूँ। आप कृपासिंधु हैं और गुण-ज्ञानमें निगुण हैं॥ ४॥ हे शरणपाल! सन्त और असन्तके भेद अलग-अलग करके मुझे समझाकर कहिये॥ ५॥

शब्दार्थ—**श्रीमुख**=शोभित या सुन्दर मुख। यथा—*'आगम कल्प रमण तब ह्वैहै श्रीमुख कही बखान'* (सूर)। बड़े लोगों, महात्माओंकी सुन्दर वाणीकी प्रशंसा सूचित करनेके लिये उनके मुख एवं वचन आदिके साथ 'श्री' का प्रयोग किया जाता है। श्रीमुख अर्थात् सुन्दर मुखारविन्दद्वारा।

टिप्पणी—१ *'करौं कृपानिधि एक ढिठाई।.........'* इति। (क) आप *'कृपानिधि'* हैं। अर्थात् दासोंपर सदा कृपा करते हैं, अनुचित कार्य करनेपर भी उनपर क्रोध नहीं करते। यथा—*'जेहि जन पर ममता अति छोहू। जेहिं करुना करि कीन्ह न कोहू॥'* (१। १३। ६) यह समझकर धृष्टता करता हूँ। (ख) *'एक ढिठाई.........'* इति। स्वामीके आगे बोलना धृष्टता है। धर्म जाननेवाले सेवक स्वामीके सम्मुख बोलना धृष्टता समझते हैं।

गौड़जी—भरतजी सेवाभावका जो उच्च आदर्श रखते हैं वहाँतक कल्पनाका पहुँचना भी असम्भव है। साधारण उपासक तो पग-पगपर ढिठाई ही करता है, बिना ढिठाई किये उसकी चल ही नहीं सकती। स्वामीकी बड़ाई और अपनी छुटाईपर विचार करके इस लाचारीपर विवश रह जाना ही पड़ता है—*'राम सों बड़ो है कौन, मोसों कौन छोटो। राम सों खरो है कौन, मोसों कौन खोटो॥'* सेवककी कोई गति-मति ढिठाईसे खाली नहीं होती। फिर भी यही ढिठाई सेवकके लिये परित्राण है, इसके बिना वह एक क्षण जी नहीं सकता। छोटी-सी-छोटी पीड़ामें कातर हो वह प्रभुको टेरता है और जरा-जरा-सी बातमें वह प्रभुको स्मरण करता है। क्या यह सेवाका भाव है?—*'सब तें सेवक धरम कठोरा।'* ऐसी ढिठाई करनेवाला अपनेको सेवक समझकर प्रभुको नहीं पुकारता। वह उसी तरह प्रभुको पुकारता है जैसे असहाय बालक पद-पदपर माताका आश्रय ढूँढ़ता है। सेवकमें शिष्य वा बालकका प्रभुके प्रति बड़ा गम्भीर और प्रच्छन्न भाव बना रहता है। इसे सेवाभाव न कहकर वात्सल्यभाव कहना चाहिये। सेवाभावमें तो मुतलक

(किंचित् भी) ढिठाईकी गुंजाइश नहीं है। श्रीभरतजी भी ढिठाई करनेका अपना दावा उसी वात्सल्यभावके साथ रखते हैं—सख्यभावसे नहीं—जिसका परिचय *'मैं प्रभु कृपा रीति जिय जोही। हारेहु खेल जितावहिं मोही॥'* और *'गुरु पितु मातु न जानौं काहू। कहउँ सुभाव नाथ पतियाहू॥'* से मिलता है। अतः भरतजी पहले तो कुछ बोलते ही नहीं, अपनी तरफसे कुछ प्रश्न नहीं करते, प्रभुकी ओरसे इशारा भी पाते हैं तो भी प्रश्न करनेमें ढिठाई समझते हैं। सेवककी ओरसे स्वामीके प्रति इस दर्जेका अदब चाहिये।

नोट—१ और भाव ये हैं—जब स्वामी स्वयं ही सब प्रकार सेवककी रुचि रखते हैं तब ऐसे सर्वज्ञ स्वामीसे संकोच छोड़कर कुछ कहना धृष्टता ही है। (पं०, पं० रा० व० श०) आप सुस्वामि हैं, कृपानिधान हैं, सेवक-सुखदाता हैं, ऐसा स्वामी पाकर सेवक ढीठ हो जाते हैं अतः मैं भी एक ढिठाई करता हूँ। पहले कह चुका कि मुझे कोई संदेहादि नहीं हैं और अब प्रश्न करूँगा यह ढिठाई है। (वै०) 'ढिठाई करनेका हेतु यही है कि मैं सेवक हूँ और आप *'जन सुखदाई'* हैं इस भरोसेपर शंका नहीं है। (रा० प्र०, खर्रा)

वि० त्रि०—भरतजी स्वयं सन्त हैं, सन्तके लक्षणोंसे अपरिचित नहीं हैं, अतः जानी हुई बातको पूछना केवल उत्तर देनेवालेको व्यर्थ ही कष्ट देना है, अतः भरतजी कहते हैं कि मैं ढिठाई करता हूँ, सरकार कृपानिधि हैं क्षमा करेंगे, और मैं सेवक हूँ, मुझे सुख देनेके लिये उत्तर देनेकी कृपा करेंगे। मुझे आपकी कृपासे न तो सन्देह है, न शोक-मोह है, पर सरकारके मुखकी वाणी सुननेकी इच्छा है, (यथा—*'सुनी चहहिं प्रभु मुख कै बानी।'*) जिससे, जो कभी-कभी सरकारके चरित देखनेसे भ्रम हो जाता है, उसकी हानि हो जाय।

टिप्पणी—२ *'संतन्ह कै महिमा रघुराई।'*......... ' इति। *'रघुराई'* का भाव कि आप राजा हैं, वेद-पुराण आपके यहाँ नित्यप्रति होते ही रहते हैं।

नोट—सन्तोंके लक्षण और महिमा भा० ११। ११ में विस्तारसे भगवान्‌ने उद्धवसे कही है। भागवत सब पुराणोंका फल-स्वरूप है। यत्र-तत्र उपनिषदोंमें सन्तोंकी महिमा वर्णित है। जहाँ-जहाँ ऋषियों-भक्तों आदिका वर्णन है वहाँ-वहाँ उनकी महिमा भी गायी गयी है। अतः 'वेदोंका गाना' कहा।

३ (क)—*'श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई'*, यथा—*'आजु धन्य मैं सुनहु मुनीसा। तुम्हरे दरस जाहिं अघ खीसा॥ बड़े भाग पाइब सतसंगा।'* इत्यादि। (ख) *'गुन ग्यान बिचच्छन'* का भाव कि जैसा आपसे कहते बनेगा वैसा दूसरेसे न बनेगा। (ग) 'लक्षण' सुननेका भाव कि बिना लक्षण जाने सन्त और असन्त पहिचाने नहीं जा सकते।

☞ *'कहहु बुझाई।'* जिज्ञासुको इसी प्रकार अज्ञानी बनकर पूछना चाहिये।

संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता। अगनित श्रुति पुरान बिख्याता॥ ६॥
संत असंतन्हि कै असि करनी। जिमि कुठार चंदन आचरनी॥ ७॥
काटै परसु मलय सुनु भाई। निज गुन देइ सुगंध बसाई॥ ८॥

शब्दार्थ—**आचरनी**=आचरण, व्यवहार, चाल-चलन। '**सुगंध बसाई**', '**देइ सुगंध बसाई**'=सुगन्ध वास या महक देता है, सुवासित कर देता है, सुगन्ध बसा देता है। श्रीनंगेपरमहंसजी लिखते हैं कि यह काशीसे पूर्वकी ग्रामभाषा है। **बसाना**=महका देना।

अर्थ—हे भ्राता! सुनो। सन्तोंके लक्षण अगणित (संख्यारहित, बहुत) हैं और वेदों-पुराणोंमें प्रसिद्ध हैं॥ ६॥ संतों और असंतोंकी करनी ऐसी है जैसा कि चंदन और कुल्हाड़ीका आचरण (व्यवहार, करनी) है॥ ७॥ हे भाई! (उनके आचरण कहता हूँ) सुनो। फरसा मलयचंदनको काटता है (जैसा कि उसका स्वभाव है कि वृक्षोंको काटता है) और चंदन अपना गुण देकर सुगंध बसा देता है, उसे सुवासित कर देता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता।'*......... ' इति। (क) श्रीभरतजीने संत और असंतके भेद अलग-अलग पूछे हैं। इसीसे श्रीरामजी उनके भेद पृथक्-पृथक् कहते हैं। (ख) *'भ्राता'*।—सब भाई

श्रीरामजीको स्वामी मानते हैं और श्रीरामजी सबको अपना भाई अर्थात् बराबरवाला ही मानते हैं। दोनों अपने-अपने भावमें सावधान हैं। (ग) *'अगनित श्रुति पुरान बिख्याता'* यह कहकर श्रीभरतजीके *'संतन्ह कै महिमा रघुराई। बहु बिधि बेद पुरानन्ह गाई॥'* इन वचनोंका समर्थन करते हैं।

२ *'काटै परसु मलय.........।'* भाव कि इसी प्रकार दुष्ट लोग जैसे सबका अपमान करते हैं वैसे ही सन्तोंका भी अपमान करते हैं और संत जैसे सबको सुख देते हैं वैसे ही खलोंको भी सुख देते हैं।—*'उमा संत कै इहै बड़ाई। मंद करत जो करइ भलाई॥'* (५। ४१। ७)

नोट—१ यहाँ संत चन्दन हैं, असन्त कुठार हैं, अहित करना काटना है, निज गुण देना सुगंध बसाना है। चन्दन देवताओंपर चढ़ता है, सन्त देवताओंसे भी पूजित होते हैं।

कुछ लोग यह शंका करते हैं कि अपना गुण संत असंतको कहाँ देते हैं, असंतमें तो संतका गुण आ नहीं जाता यद्यपि कुल्हाड़ेमें वास जरूर आ जाती है। इसका उत्तर दूसरे यह देते हैं कि संतके क्षमा-शीलाचरणसे पीछे असंतमें ग्लानि आती है और *'सठ सुधरहिं सत्संगति पाई', 'खलउ करहिं भल पाइ सुसंगू।'* यही उनमें सुगन्ध वास देना है। दूसरा उत्तर यह है कि संत देते हैं, यह काम इनका है। वे ग्रहण करें या न करें यह उनका काम है।

२—संतोंका निज गुण यह है कि खल उनका सर्वस्व हरण कर लें तो भी ये उनमें शत्रुताभाव न रखकर उनके लिये प्रार्थना ही करते हैं कि हे प्रभो! ये घोर यमयातनाको भूल गये हैं, इनको बुद्धि सुधार दीजिये जिसमें इनका कल्याण हो—*'पर उपकार बचन मन काया। संत सहज सुभाव खगराया॥'* कितना ही कष्ट पड़े पर धर्म नहीं छोड़ते। इस तरह *'निज गुन देइ सुगंध बसाई'* का अर्थ होगा कि काटनेपर भी वह 'सुगन्धवास देना'-रूपी अपना गुण ही देता (अर्थात् प्रकट करता) है वैसे ही संत अपना अहित होनेपर भी क्षमा ही करते हैं।

नं० प०—'चन्दन अपना गुण कुल्हाड़ेमें देता नहीं है किंतु प्रकट करता है। यदि कहिये कि वह कुल्हाड़ेमें सुगन्ध देता है तो उस सुगन्ध देनेसे कुल्हाड़ेका क्या फायदा होता है? कुछ नहीं, बल्कि वह अग्निमें तपाकर पीटा जाता है। सुगन्ध प्रकट करना तो चंदनका स्वाभाविक गुण है, जैसे चन्दनकी सुगन्धसे कुल्हाड़ेको कोई लाभ नहीं, वैसे ही सन्तके गुणसे असंतका कुछ फायदा नहीं होगा। यहाँ दोनोंका करतबमात्र दिखाया गया है।'

दो०—तातें सुर सीसन्ह चढ़त जगबल्लभ श्रीखंड।
अनल दाहि पीटत घनहि परसु बदन यह दंड॥३७॥

अर्थ—इसी (अपने साधु-गुणसे) चन्दन देवताओंके मस्तकपर चढ़ता है और जगत्‌को प्रिय है। और कुल्हाड़ीके मुखको यह दण्ड मिलता है कि उसको आगमें तपाकर फिर घनसे पीटते हैं। (इसी प्रकार संत लोग क्षमाशील होनेसे देवताओंके सिरपर चढ़कर अर्थात् देवलोकोंको लाँघते हुए परम धामको जाते हैं और सारे जगत्‌को प्रिय हैं)॥ ३७॥

☞ संक्षेपसे दोनोंके लक्षण इस दोहेमें कहकर आगे विस्तारसे कहते हैं।

पं०—*'जिमि कुठार चंदन आचरनी।.........'* से यह सन्देह हुआ कि इसमें तो दुष्टोंका अत्यन्त लाभ हुआ कि वे चाहे जिसे जो कुछ हानि पहुँचावें उनकी हानि न होगी, वरन् उलटे वे 'सुगन्ध' पा जाते हैं। इसीपर यहाँ कहते हैं कि उनको लाभ न समझो। सन्त दण्ड नहीं देते पर उनकी करनीका फल उनको ईश्वर देता है। उसने चन्दनको अपनी करनीका फल यह दिया कि देवताओंके सिरपर चढ़ता है और कुठारको यह फल दिया कि वह तपाया और पीटा जाता है। वैसे ही संत देवताओंसे भी पूज्य हैं और खल घोर यमयातना पाते हैं अर्थात् दण्डनीय हैं।

मा० म०—चन्दनवृक्ष कदापि अर्चाविग्रह शालग्रामपर नहीं चढ़ सकता। जब कुठार काटता है तभी वह

शालग्रामपर चढ़ने योग्य होता है। इसी तरह संत खलोंकी चोट सहकर परमात्माको प्राप्त करते हैं।

नोट—यहाँ संतका सुर-शीशपर चढ़ना क्या है? चन्दन दुष्ट कुल्हाड़ेसे काटा गया तब देवताओंपर चढ़ा और सन्त असन्तोंसे कष्ट पानेपर सहनशीलताके कारण इस लोकमें भूदेव ब्राह्मणोंसे तथा जगन्मात्रसे पूजित होते हैं और अन्तमें स्वर्गादिके देवताओंसे पूजित होते हुए परमधामको जाते हैं। इसी तरह असंतके प्रसंगमें *'अनल दाहि पीटत घनहिं.........'* यह है कि इस लोकमें सब थुड़ी-थुड़ी करते हैं, न्यायालयसे दण्ड मिलता है और अन्तमें यमयातना भोगनी पड़ती है। महाराष्ट्रके संत श्रीएकनाथजीकी क्षमा इसका बड़ा उज्ज्वल उदाहरण है।

वीर कवि—संत असंत उपमेय वाक्य, चन्दन कुठार उपमान वाक्य। एक पूज्य दूसरा दण्डनीय, यह दोनोंका धर्म पृथक् होनेपर भी इनमें एक प्रकारकी समता-सी जान पड़ती है—यह 'दृष्टान्त अलंकार' है। चन्दन अपने साधुगुणसे वन्दनीय, कुठार दुष्ट गुणसे दण्डनीय—इसमें व्यङ्ग्यार्थसे 'प्रथम सम' अलंकार है।

नं० प०—'कुल्हाड़ारूप असंत चन्दनरूप संतको दुःख देते हैं, परंतु चन्दनके सुगन्धकी तरह संत अपना क्षमा गुण प्रकट कर देते हैं अर्थात् क्षमा कर जाते हैं। उस क्षमागुणसे संतजन देवतारूप भूसुरसे भी पूजित होके शिरमौर हो जाते हैं और जगत्‌को प्रिय होते हैं। कुठाररूप असंत अग्निरूप बादशाहोंके क्रोधसे तपाकर घनरूप सजा बलसे पीटे जाते हैं।

बिषय अलंपट सील गुनाकर। पर दुख दुख सुख सुख देखे पर॥ १॥
सम अभूतरिपु बिमद बिरागी। लोभामरष हरष भय त्यागी॥ २॥

शब्दार्थ—लंपट=व्यभिचारी, विषयी, कामुक। यथा—*'लोभी लंपट लोलुपचारा। जे ताकहिं पर धन पर दारा॥'* **अलंपट**=जो विषयी नहीं है अलिप्त है। **अभूत**=जो हुआ न हो। **अभूतरिपु**=जिनका कोई शत्रु पैदा ही नहीं हुआ। **अमर्ष**=वह द्वेष वा दुःख जो ऐसे मनुष्यका कोई अपकार न कर सकनेके कारण उत्पन्न होता है जिसने अपने गुणोंका तिरस्कार किया हो। असहिष्णुता। **बिमद**=सब प्रकारके मदसे रहित।

अर्थ—विषयोंमें लिप्त (अर्थात् विषयी या व्यभिचारी) नहीं होते, शील और सद्‌गुणोंकी खानि होते हैं। पराया दुःख देखकर दुःखी और सुख देखकर सुखी होते हैं॥ १॥ उनका सबमें समान भाव है (शत्रु, मित्र, उदासीन सबको एक-सा देखते हैं। न किसीको शत्रु समझें न किसीको मित्र)। उनके लिये कोई शत्रु है ही नहीं अर्थात् वे अजातशत्रु हैं। वे मदरहित और वैराग्यवान् होते हैं (अर्थात् किसीमें उनका राग वा प्रेम नहीं है)। लोभ, अमर्ष, हर्ष और भयको त्याग किये हुए हैं॥ २॥

पं०—*'बिषय अलंपट सील गुनाकर'* अर्थात् विषय-भोग पाकर भी उनका चित्त उनमें लंपट नहीं होता, यह कहकर फिर उसका कारण बताते हैं कि वे शील-विवेकादि गुणोंकी खानि हैं। शील गुणाकर कहा क्योंकि *'पर दुख दुख सुख सुख देखे पर'* यह उनमें है। सबके दुःख-सुखको वे अपना ही दुःख-सुख मानते हैं क्योंकि समता भाव है। समता इससे कि उनका कोई शत्रु है ही नहीं, निर्वैर होनेका कारण **'बिमद बिरागी'** है। विरागी इससे कहा कि लोभादिका त्याग है।

पं० रा० व० श० १—*'पर दुख दुख'* का भाव कि अपना दुःख उनको कभी नहीं होता, कैसा ही दुःख उनपर आ पड़े तो भी वे उससे दुःखी नहीं होते। वे दूसरेका दुःख ही देखकर दुःखित होते हैं, यही दुःख है। भक्तमालमें केवलरामजीकी कथा प्रसिद्ध है कि बैलको सोंटा मारा गया उससे उनको कैसा दुःख हुआ कि वे लोट गये, सोंटेके दाग उनके शरीरपर उपट आये। ऐसा कोमल स्वभाव!

नोट—*'सम अभूतरिपु'* तथा *'लोभामरष हरष भय त्यागी'* में गीताके **'यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥'**(१२। १५) का भाव है। अभूतरिपु कहकर जनाया कि सब उसे अविरोधी समझते हैं क्योंकि वह प्राणियोंको उद्विग्न करनेवाला कोई भी कर्म नहीं करता और दूसरे लोग भी उसके उद्देश्यसे कोई उद्वेगकारक कर्म नहीं करते। इसीसे वह किसीके प्रति हर्ष, किसीके प्रति ईर्ष्या, किसीसे भय और किसीके प्रति उद्वेगसे रहित हो गया है।

'सम' में यहाँ '**समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः। शीतोष्णसुखदुःखेषु समः**………।'(गीता १२। १८) का भाव भी आ गया। भाव कि जब शत्रु-मित्र, मान वा अपमान, सुख वा दुःखका सान्निध्य प्राप्त हो उस समय भी संतका चित्त सम रहता है, उसमें विकार उत्पन्न नहीं होने पाता।

पं० रा० व० श०—२ 'अमर्ष' जैसे कि बात काटनेपर, प्रतिष्ठित जगह अपमान करने इत्यादिसे होता है। ३ '*भय त्यागी*' क्योंकि वे सर्वत्र अपने प्रभुको ही देखते हैं तब भय किसका?

टिप्पणी—लोभ नहीं है अर्थात् संतोषी हैं। अमर्ष (=क्रोध) नहीं है अर्थात् शान्त हैं। विषयकी प्राप्ति श्रीरामजीमें विश्वास होनेसे (किसीका) भय नहीं है।

वीर—'*दुख दुख*' '*सुख सुख*' में यमक अलंकार है। परदुःखसे दुःखी होनेमें 'द्वितीय उल्लास' और पराये सुखसे सुखी होनेमें 'प्रथम उल्लास अलंकार' है।

कोमलचित दीनन्ह पर दाया। मन बच क्रम मम भगति अमाया॥ ३॥
सबहि मानप्रद आपु अमानी। भरत प्रान सम मम ते प्रानी॥ ४॥

अर्थ—उनका चित्त कोमल होता है, वे दीनोंपर दया करते हैं और मन, वचन और कर्मसे कपट-छलरहित होकर मेरी भक्ति करते हैं॥ ३॥ सबको मान-प्रतिष्ठा देते हैं और स्वयं मानरहित होते हैं। हे भरत! वे प्राणी मेरे प्राणोंके समान मुझको (प्रिय) हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ कोमलचित्त कहकर दीनोंपर दया कही; क्योंकि कोमलचित्त होनेसे ही दया होती है, यथा—'*नारद देखा बिकल जयंता। लागि दया कोमल चित संता॥*' (३। २। ९) २—'*मन बच क्रम मम भगति।*' अर्थात् मनसे विचार करें, वचनसे कीर्तन करें, कर्म-(तन-) से मेरा पाद-सेवन करें। '*अमाया*' अर्थात् दिखानेके वास्ते नहीं [अर्थ-धर्मादिकी चाह स्वार्थ, छल और माया है—'*स्वारथ छल फल चारि बिहाई।*' (२। ३०१। ३)] ३—'*सबहि मानप्रद आपु अमानी।*' जैसे कि श्रीरामचन्द्रजीने गृध्रराजको पिता बनाया और आप पुत्र बनकर उसको गति दी, उग्रसेनको द्वापरमें राज्य दिया और आप उनके द्वारपाल बने। ४—'*ते प्रानी*' का भाव कि वस्तुतः वे ही प्राणधारी हैं और जो मुझसे विमुख हैं वे तो शवसमान हैं।

बिगत काम मम नाम परायन। सांति बिरति बिनती मुदितायन॥ ५॥
सीतलता सरलता मैत्री। द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री॥ ६॥

शब्दार्थ—**मुदिता**=हर्ष, आनन्द। योगशास्त्रमें समाधियोग्य संस्कार उत्पन्न करनेवाला एक परिकर्म जिसका अभिप्राय है—पुण्यात्माओंको देखकर हर्ष उत्पन्न करना। ये परिकर्म चार कहे गये हैं—मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा (विरक्ति, उदासीनता)। यथा—'**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्**।'(योगसूत्र १। ३३) **जनयत्री**=जन्म देनेवाली, माता।

अर्थ—कामनारहित हैं और निष्काम रहकर मेरे नाममें लगे रहते हैं (अर्थात् नाम जपते रहते हैं)। शान्ति, वैराग्य, विनम्रता और मुदिताके घर हैं॥ ५॥ शीतलता (क्रोधका मौका होनेपर भी क्रोध न आना), सीधासादापन (सरल स्वभाव अर्थात् छल छू भी नहीं गया), मित्रता और ब्राह्मणोंके चरणोंमें प्रीति—जो सब धर्मोंको उत्पन्न करनेवाली है॥ ६॥

नोट—ऊपर 'विमद', 'लोभत्यागी' कह आये। यहाँ '*बिगत काम*' कहा और '*सांति बिरति बिनती मुदितायन।*' '*सीतलता*' से क्रोधरहित होना कहा। काम, क्रोध, मद और लोभ ये चारों नरकके पंथ हैं, नरकके हेतु हैं। ये उस मार्गपर भूलकर पैर नहीं रखते यह जनाया। यह लक्षण भगवान्‌ने नारदजीसे कहा भी है। यथा—'*भूलि न देहिं कुमारग पाऊ।*' (३। ४६। ६)

'*बिगत काम*' कहकर '*मम नाम परायन*' कहनेका भाव कि कोई भी कामना नहीं है तब तो वे कुछ भी करते न होंगे, इसका निराकरण करते हैं। तात्पर्य कि वे निष्काम होनेपर भी अहर्निशि मेरे नामका स्मरण करते रहते हैं। यथा—'*सकल कामना हीन जे रामभगति रस लीन। नाम सुप्रेम पियूषह्रद तिन्हहु किए मन मीन॥*' (१। २२)

'सीतलता सरलता मैत्री' ये तीनों क्रमसे कहे गये। काम, क्रोध नहीं है अतः शीतल हैं। सरल स्वभाव है, छल-कपटका लेश नहीं। इसीसे सबपर प्रीति रहती है, सब मित्र हैं, मिलान कीजिये—*'सम सीतल नहि त्यागहिं नीती। सरल सुभाउ सबहिं सन प्रीती॥', 'श्रद्धा क्षमा मयत्री दाया। मुदिता मम पद प्रीति अमाया॥'* (आ० ४६) *'द्विजपद प्रीति धर्म जनयत्री'* से यह भी जनाया कि उनमें किञ्चित् भी लोभ नहीं है, बड़ी श्रद्धासे विप्रोंकी सेवा करते हैं तथा धर्मपरायण रहते हैं।

नोट—१ यहाँ 'विरति' 'मैत्री' 'मुदिता' ये तीन परिकर्म कहे गये और *'कोमलचित दीनन्ह पर दाया'* यह 'करुणा' परिकर्म ऊपर कह आये। इस तरह इनको योगशास्त्रसमाधि योग्य चारों परिकर्मयुक्त दिखाया। २—गीताके अ० १२ मेंके श्लोक १३—१५, १९ से मिलान कीजिये—

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च। निर्ममो निरहंकारः समदुःखसुखः क्षमी॥ १३॥

संतुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः। मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः॥ १४॥

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः। हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः॥ १५॥

.........तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी संतुष्टो येन केनचित्॥ १९॥

ये सब लच्छन बसहिं जासु उर। जानेहु तात संत संतत फुर॥ ७॥

सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं। परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं॥ ८॥

अर्थ—हे तात! ये सब लक्षण जिसके हृदयमें बसते हों उसको निरन्तर सत्य ही संत जानना॥ ७॥ शम, इन्द्रियदमन, बारहों प्रकारके नियमों और नीतिसे कभी नहीं डगते (चूकते)। कठोर वचन कभी नहीं बोलते॥ ८॥

☞*'ये सब लच्छन बसहिं जासु उर'* यहाँतक निवृत्ति-मार्ग कहा। आगे प्रवृत्तिमार्ग कहते हैं।—*'संत संतत फुर।'* यथा—*'नीके हैं साधु सबै तुलसी पै तेई रघुबीर के सेवक साँचे।'* (क० उ० ११८)

☞ स्मरण रहे कि यहाँ 'सब' शब्दपर ध्यान रखना चाहिये। यदि इसमें त्रुटि हुई तो वह सच्चा संत नहीं है।

मा० म०—ये सब लक्षण जिसमें बसें वही सच्चा संत है। भाव यह कि जैसे गङ्गाजल जिस पात्रमें रहेगा, वही गङ्गाजलका पात्र कहा जायगा। चाहे वह स्वर्णका हो चाहे मिट्टीका इससे भेद नहीं होगा, ऐसे ही किसी कुलमें उत्पन्न क्यों न हो जो इन लक्षणोंसे सम्पन्न है वही संत है।

करु०—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकारकी वृत्ति एकाग्रकर परमेश्वर-तत्त्वमें लगाना शम है। दसों इन्द्रियोंके विषयोंको जीतना दम है।

वि० त्रि०—*'सम दम नियम.........बोलहिं।'* इति। इस प्रसंगमें तीनों प्रकारके संतों अर्थात् भक्तियोगी, ज्ञानयोगी और कर्मयोगियोंके लक्षण कहे। *'विषय अलंपट सील गुनाकर'* से लेकर *'भरत प्रान सम मम ते प्रानी'* तक भक्तियोगियोंका वर्णन है, क्योंकि *'मन बच क्रम मम भगति अमाया'* इसीमें कहा गया है। *'बिगत काम मम नाम परायन'* से लेकर *'संत संतत फुर'* तक ज्ञानी भक्तका वर्णन है, क्योंकि उनका परम शरण नाम बतलाया गया है, नामसे ही ज्ञानमार्गकी प्राप्ति होती है (यथा—'ज्ञानमार्गं तु नामतः।' रामतापनीये) तथा *'संत संतत फुर'* कहकर वही भाव द्योतित किया, जो **'ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्'** कहनेसे बतलाया गया है। इसी भाँति *'सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं'* से *'गुनमंदिर सुख पुंज'* तक कर्मयोगी भक्तका वर्णन है। क्योंकि *'नीति नहिं डोलहिं'* तथा 'गुणमन्दिर' शब्दोंसे उनका क्रिया-कौशल द्योतित किया (**योगः कर्मसु कौशलम्**।)

दो०—निंदा अस्तुति उभय सम ममता मम पद कंज।
ते सज्जन मम प्रानप्रिय गुनमंदिर सुख पुंज॥ ३८॥

अर्थ—निन्दा और प्रशंसा दोनों जिनको समान हैं, मेरे चरणकमलोंमें जिनका ममत्व है, वे सज्जन गुणधाम और सुखराशि हैं तथा मुझको वे प्राणोंके समान प्रिय हैं॥ ३८॥

रा० प्र०—*'निंदा अस्तुति उभय सम'* का भाव कि वे सुखपूर्वक संसारमें विचरते हैं, यथा—*'सम मानि निरादर आदरही। सब संत सुखी बिचरंति मही॥'*

टिप्पणी—*'ममता मम पद कंज।'* साधनकी समाप्ति अपने पदकंजमें की। इससे यह सूचित किया कि यहींतक साधन है, मेरे चरणोंमें प्रेम होना यही सिद्ध फल है। यथा महारामायणे—**'अन्ये विहाय सकलं सदसच्च कार्यं श्रीरामपङ्कजपदं सततं स्मरन्ति।'** जब उसको चरणोंमें प्रेम हुआ तब वह गुणमन्दिर, सुखपुञ्ज और *'मम प्रानप्रिय'* हो गया। २—यहाँतक संत-लक्षण कहे।

मा० म०—*'ममता मम पद कंज'* का भाव कि प्रायः जीवोंका ममत्व प्राकृत पदार्थोंमें रहता है, इसीसे वे चंचल रहते हैं, उसे छोड़कर वैसा ही ममत्व हममें करना चाहिये।

नोट—यहाँतक एक दोहेमें प्रभुने संतोंके लक्षण कहे। इस कथनमें संतोंके विषयमें कहा कि ये प्राणी प्राणसमान प्रिय हैं, ये सच्चे संत हैं, ये *'सज्जन मम प्रानप्रिय'* हैं। वस्तुतः यह कथन-शैली है। यहाँ संतोंके कोई भेद नहीं कहे गये हैं। गीताजीके १२ वें अध्यायमें कई बार, यह भक्त मुझे प्रिय हैं और ऐसे भक्त अत्यन्त प्रिय हैं, कहा गया है। वहाँ भी भक्तों और संतोंका कोई विभाग नहीं हुआ। कुछ महानुभावोंने उपर्युक्त तीन बारके कथनोंपर अपने विचार प्रकट किये हैं।

पं० रामकुमारजीने कहा है कि प्रथम दोमें निवृत्तिमार्गवालों और तीसरेमें प्रवृत्तिमार्गवालोंके लक्षण कहे हैं। और वैजनाथजीका मत है कि—प्रथममें नवधावाले मुग्धा भक्तोंके लक्षण, दूसरेमें प्रेमावाले मध्य भक्तोंके और अन्तमें परावाले प्रौढ़ भक्तोंके लक्षण कहे हैं। जबतक देह-बुद्धि रहती है तबतक जीव नवधाका अधिकारी रहता है। मुग्धा भक्तोंमें देहाभिमान अधिक और ज्ञान सूक्ष्म रहता है। इसीसे रघुनाथजीने इनको प्राणसम प्रिय कहा। जब देहाभिमान और ज्ञान दोनों एक समान हुए, जीवबुद्धि आयी तब जीव प्रेमाभक्तिका अधिकारी हुआ। इसमें प्रेममें वियोग होते ही भक्त व्याकुल हो जाता है सदा अनन्यभावसे प्रेमानन्दमें डूबा रहता है। अतः इनको सच्चा संत कहा, कैसा प्यार करते हैं सो न कह सके। जब देहाभिमानरहित होनेपर केवल आत्मबुद्धि रही तब पराभक्तिका अधिकारी होता है, अचल अनुराग भगवद्रूपमें स्थिर रहता है—ये प्रभुको प्राणसे अधिक प्रिय हैं।

☞ पं० विजयानन्द त्रिपाठीका मत है कि यहाँ भक्ति, ज्ञान और कर्मयोगी तीन प्रकारके संत कहे गये।

(असंतोंके लक्षण)

सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ। भूलेहु संगति करिय न काऊ॥ १॥
तिन्ह कर संग सदा दुखदाई। जिमि कपिलहि घालइ हरहाई॥ २॥
खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी। जरहिं सदा पर संपति देखी॥ ३॥

अर्थ—(अब) असंतोंका स्वभाव सुनो। भूलकर भी कभी उनकी संगति न करे। (भाव कि भूलसे भी जिनका संग हो जानेसे लोग नष्ट हो जाते हैं, उनकी संगति जान-बूझकर करनेसे नष्ट क्यों न होंगे?)॥ १॥ उनका संग सदा दुःखदायी है जैसे कि हरहाई (चुराकर पराया खेत खानेवाली, नटखट) गौ कपिला गौको (साथ लेकर उसे) नष्ट कर डालती है। (भाव कि इसी तरह असंत निर्दोषीको भी अपने संग रखकर दोषी कर देते हैं)॥ २॥ खलोंके हृदयमें अत्यन्त अधिक जलन बनी रहती है। वे पराया ऐश्वर्य देख सदैव जलते रहते हैं॥ ३॥

नोट—१ *'भूलेहु संगति करिय न काऊ'* इति। भगवान् कपिलदेवने भी यही कहा है। यथा—**'यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः। आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥'**(३। ३१। ३२) **सत्यं शौचं दया मौनं बुद्धिः श्रीर्ह्रीर्यशः क्षमा। शमो दमो भगश्चेति यत्सङ्गाद्याति संक्षयम्॥ तेष्वशान्तेषु मूढेषु खण्डितात्मस्वसाधुषु। सङ्गं न कुर्याच्छोच्येषु योषित्क्रीडामृगेषु च॥'**(३। ३१। ३२—३४) (अर्थात्) सन्मार्गमें चलते समय यदि इसका किन्हीं शिश्नोदरपरायण पुरुषोंसे समागम हो जाता है तो उनका अनुगमन करनेके कारण यह पूर्वकथित

नारकी योनियोंमें पड़ता है। उनके संगसे इसके सत्य, शौच, दया, मौन, बुद्धि, श्री, लज्जा, यश, क्षमा, शम, दम और ऐश्वर्य आदि समस्त सद्गुण नष्ट हो जाते हैं। अतः उन अशान्त, मूढ़, विक्षिप्तचित्त और स्त्रियोंके क्रीड़ामृगरूप अत्यन्त असत्पुरुषोंका संग कभी नहीं करना चाहिये।

नोट—२ कपिला धूम्रवर्णा गौका नाम है जिसका माहात्म्य सबसे अधिक कहा गया है। यहाँ 'कपिला' शब्द सीधी-सादी गौके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। रा० प्र० कार कहते हैं कि व्रजादिमें मयनी गौ जिसका सींग हिलता है उसको 'हरहाई' कहते हैं। यह सबको मारती है, बड़ी उत्पातिन होती है। कपिला सिधाईकी अवधि है और हरहाई दुष्टताकी।

पं० रा० व० श०—'*भूलेहु संगति करिय न काऊ*' पर यह कह सकते हैं कि जब हम उनका कुछ बिगाड़ेंगे ही नहीं तब वे हमें दुःख क्यों देंगे, उसपर कहते हैं कि उनका संग ही दुःखद है जैसे कपिला हरहाईके साथ जानेसे मारी जाती है, हरहाई तो खाय और भाग जाय और पकड़ी मारी जाय कपिला। यहाँ उदाहरण और लोकोक्ति अलंकार है।

टिप्पणी—'*खलन्ह हृदय अति ताप*"""""*।*' हृदयमें ताप लिखनेसे सूचित किया कि वे ऊपरसे शीतल बने रहते हैं और अन्तःकरण जला करता है। २—'*जरहिं सदा पर संपति देखी*' कहनेका भाव कि ये कभी किसीका भला नहीं चाहते। जैसे संत '*पर दुख दुख सुख सुख देखे पर*' वैसे ही इसके विपरीत खल परसम्पत्ति देखकर जलते और पराया दुःख देखकर सुखी होते हैं, यथा—'*जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जगनृपती॥*' यहाँ तीसरा 'उल्लास' है।

जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई। हरषहिं मनहु परी निधि पाई॥ ४॥
काम क्रोध मद लोभ परायन। निर्दय कपटी कुटिल मलायन॥ ५॥
बयरु अकारन सब काहू सों। जो कर हित अनहित ताहू सों॥ ६॥

अर्थ—जहाँ कहीं दूसरेकी निन्दा सुनते हैं, वहाँ ऐसे प्रसन्न होते हैं मानो नवों निधियाँ उनको (राहमें) पड़ी हुई (अनायास) मिल गयी हों॥ ४॥ काम, क्रोध, मद और लोभमें तत्पर रहते हैं, दयारहित, कपटी, कुटिल और पापोंके घर हैं अर्थात् समस्त पाप इनमें ही आकर बसे हैं (पापी हैं)॥ ५॥ बिना कारण ही सब किसीसे वैर रखते हैं। जो उनके साथ भलाई करता है उसके साथ भी बुराई करते हैं॥ ६॥

नोट—'*जहँ कहुँ सुनहिं*' का भाव कि—(क) यही नहीं कि कोई उनसे कहने आवे तब सुनते हों किंतु सुननेको जाया करते हैं और सुन-सुनकर प्रसन्न होते हैं। (ख) निन्दाके समान दूसरा पाप नहीं, यथा—'*पर निंदा सम अघ न गरीसा।*' (१२१। २२) इससे लोग निंदा कम करते हैं, इसीसे कहा कि '*जहँ कहुँ सुनहिं।*' कहीं-कहीं ही सुननेको मिलती है। ये उसकी खोजमें रहते हैं।

टिप्पणी—१ '*परी निधि पाई।*' निधि-(द्रव्य-) से लोगोंकी जीविका होती है वैसे ही परनिन्दा खलोंकी जीविका है। परनिन्दा ही सुनकर जीते हैं, यही उनका जीवन-आधार है। निन्दाका मसाला ढूँढ़ा करते हैं। जो उपायसे मिला वह उनका कमाया धन है और जो चलते-फिरते मिल जाय वह पड़ा हुआ धन है (रा० शं०)।

२ (क) '*काम क्रोध मद लोभ परायन।*"""""' इति। मलायन=मलके स्थान=नरक रूप। कामी हैं इसीसे मलके स्थान हैं। क्रोधी हैं इसीसे निर्दयी हैं। मदान्ध हैं इसीसे कुटिल हैं। और लोभी हैं इसीसे कपटी हैं। (वैजनाथजीका मत है कि कामी होनेसे कपटी और लोभी होनेसे मलायन कहा)।—यहाँ यथासंख्य नहीं है, पर अर्थक्रम पाठक्रमसे बली होता है, यथा—'**पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयान्।**'

नोट—२ यहाँ काम, क्रोध, मद और लोभ ये चार एक साथ कहे गये, क्योंकि पुराणोंमें यमद्वार चार कहे गये हैं और विभीषणजीने भी कहा है कि '*काम क्रोध मद लोभ सब नाथ नरक के पंथ।*' (५। ३८) गीतामें नरकके तीन ही द्वार अर्थात् हेतु काम, क्रोध और लोभ कहे गये हैं। ये सब आत्माका पतन करनेवाले हैं—'**त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः। कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्॥**'(१६। २१)

कामको प्रथम कहा, क्योंकि परमार्थसाधनका आरम्भ करनेवाले मनुष्योंका रजोगुणसे समुद्भूत, प्राचीन वासनाओंसे उत्पन्न शब्दादि विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाला महापापी काम ही साधनका स्वाभाविक विरोधी शत्रु है, जो उसे खींचकर शब्दादि समस्त विषयोंमें लगाता है। यही पापी जब अपनी गतिमें बाधा पाता है तब उस बाधामें हेतु बने हुए प्राणियोंके प्रति 'क्रोध' के रूपमें परिणत होकर उसे परहिंसामें प्रवृत्त कर देता है। प्रायः कामनाओंकी पूर्तिमें विघ्न होते हैं, इसीसे कामके पश्चात् क्रोधको कहा गया। स्मरण रहे कि विषयासक्तिसे काम उत्पन्न होता है और आसक्तिकी परिपक्वावस्थाका नाम 'काम' है। जिस दशाको प्राप्त होकर मनुष्य विषयोंका भोग किये बिना रह नहीं सकता, वह 'दशा' काम है। कामनानुसार विषयोंकी प्राप्ति न होनेपर क्रोध होता है और प्राप्ति होनेपर मद (अहंकार) और उस विषयपर लोभ होता है।

३ *'बयरु अकारन.........'* इति। बिना कारण कोई किसीसे वैर नहीं करता और न कोई हित करनेवालेसे वैर करता है पर ये दोनों बातें करते हैं। मिलान कीजिये—*'खल बिनु स्वारथ पर अपकारी।'* (१२१। १८), *'उदासीन अरि मीत हित सुनत जरहिं खल रीति।'* (बा० ४)*

नोट—३ ☞ संतों और असंतोंमें भेद दिखाया। वे *'बिगत काम मम नाम'*-परायण हैं और ये *'काम क्रोध मद लोभ'*-परायण हैं। वे *'सांति बिरति बिनती मुदिता'*-अयन हैं और ये 'मल'-अयन हैं। वे कारण उपस्थित होनेपर भी किसीसे वैर नहीं करते, वरन् 'सम' 'अभूतरिपु' हैं और ये कारण न होनेपर भी बिना प्रयोजन वैर करते हैं और वह भी यहाँतक कि जो इनका हित करता है उससे भी वैर रखते हैं, यह विलक्षण स्वभाव है। वे दयावान सरलस्वभाव, ये निर्दय और कपटी।

झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥ ७॥
बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥ ८॥

अर्थ—उनका लेना झूठ और देना भी झूठ (अर्थात् लेन-देन दोनों व्यवहार झूठसे भरे होते हैं)। उनका भोजन झूठ और उनका चर्बन भी झूठ॥ ७॥ वे मोरकी तरह मीठे वचन बोलते हैं और उनका हृदय (ऐसा) कठोर है कि महाविषैले सर्पको खा जाते हैं। (विष भी नहीं चढ़ता)॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'झूठइ लेना झूठइ देना।.........'* इति (क) 'झूठ ही लेना' यह कि उनका हक नहीं पहुँचता, फरेबसे (धोखा देकर) लेते हैं। *'झूठइ देना'*=देना झूठ करते हैं। अर्थात् जिसका हक पहुँचता है उसके देनेके हकको भी झूठा करते हैं। पुनः, *'झूठइ लेना झूठइ देना'* यह कि कहते हैं कि हमको हजारों रुपये 'लेना' अर्थात् अमुकसे पाना है और दूसरोंका हमको कुछ देना नहीं है, वा यह कि हमने हजारों रुपये ब्राह्मणोंको दान दिये हैं—ऐसी ही झूठी बातें बोल-बोलकर अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं। (ख) *'झूठइ भोजन'* इति। अर्थात् अपना उत्तम पदार्थोंका भोजन करना झूठ ही कहते हैं, घरमें तो चनेकी रोटी खायी है पर लोगोंसे कहते हैं कि हमने पूरी, हलवा, मालपूवा, बसौंधी और अनेक प्रकारकी मिठाइयाँ खायी हैं, ऐसे ही उत्तम-उत्तम भोजन रोज ही बदल-बदलकर बना करते हैं। अथवा, घरमें तो चनेकी रोटी खायी है और बाहर लोगोंको दिखानेके लिये एक अच्छी बेली रोटी घी लगी हुई कुत्तेके लिये ले आये और दस आदमियोंके सामने उसको छोड़ दी। (ग) *'झूठ चबेना'* इति। भाव कि घरमें अरहरकी बहुरी (भूँजा) और महुआ चबाकर निकले और बाहर लोगोंसे कहने लगे कि बादाम, चिरौंजी, अंगूर आदि मेवोंका बालभोग किया है, इसमें बड़ा स्वाद और गुण है, इससे हम रोज यही बालभोग करते हैं।—[जितना उनका व्यवहार है वह सब झूठ है यह फलितार्थ है—(खर्रा)]।

वि० त्रि०—लेना-देनाका अर्थ व्यवहार है। आज भी लेना-देना, लेन-देन व्यवहारके अर्थमें ही प्रयुक्त होता है। अर्थात् उनका सब व्यवहार असत्यमय होता है। यही नहीं कि वे किसी कारणसे झूठ बोलते

* वीर—यहाँ उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा और चतुर्थ उल्लासका संदेहसंकर है। कारणसे विरुद्ध कार्यका उत्पन्न होना 'पंचम विभावना' है। हित-अनहित दोनोंसे समान वैर 'चतुर्थ तुल्ययोगिता' की संसृष्टि है।

हों, वे निष्कारण झूठ बोला करते हैं। जिस भाँति बिना भोजनके किसीकी तृप्ति नहीं होती, उसी भाँति बिना झूठके उनसे रहा नहीं जाता। अत: झूठको उनका भोजन कहा। मनोविनोद भी उनका झूठसे ही होता है, अत: उनका चबेना भी झूठ ही है।

वै०—१ *'लेना देना'* जैसे कि ब्राह्मणका आशीर्वाद देना, संध्यातर्पणादि ऋषि आदिका ऋण देना और ब्राह्मणत्वशक्ति लेना, परमात्मामें चित्त देना, मुक्ति लेना। क्षत्रियका दीनोंको सुख देना, कीर्ति लेना, दुष्टोंको दण्ड, सुजनोंको सुख देना, सुयश लेना, ईश्वरमें मन देना, वैकुण्ठादि लेना। इसी तरह वैश्य और शूद्रमें लेना-देना लगा लें। *'झूठइ लेना झूठइ देना'* यह कि वे कहते तो हैं पर करते नहीं। २—*'झूठइ भोजन झूठ चबेना।'* भाव कि भिक्षुकको छटाकभर खड़ा अन्न जो कभी न देते होंगे और कहते हैं कि हम अभ्यागतको पूर्ण भोजन, चर्बन सदा देते हैं। सदाव्रत जारी है।

टिप्पणी—२ *'बोलहिं मधुर बचन………'* इति। भाव कि विश्वास बढ़ाकर सबको धोखा देते हैं। आशय यह कि वाणी तो मीठी बोलते हैं पर कर्म कठोर और खोटे करते हैं। उदाहरण अलंकार है।

नोट—ऐसी ख्याति है कि श्रीरामचरितमानसके प्रत्येक चौपाई आदिमें श्री 'राम' नामके अक्षर अवश्य आये हैं। इस प्रकार महाकवि सम्राट्ने *'राम नाम बिनु गिरा न सोहा', 'एहि महँ रघुपति नाम उदारा', 'राम नाम जस अंकित जानी'* आदि वाक्योंको चरितार्थ किया है।

देखनेसे पता चलता है कि निम्न चौपाइयोंमें नामके कोई वर्ण नहीं हैं—

(१) *भले भवन अब बायन दीन्हा। पावहुगे फल आपन कीन्हा॥'* (१। १३७। ५)

(२) *तनय जजातिहि जौबनु दयऊ। पितु अज्ञा अघ अजस न भयऊ॥'* (२। १७४। ८)

(३) *दीख निषादनाथ भल टोलू। कहेउ बजाउ जुझाऊ ढोलू॥'* (२। १९२। ३)

(४) *जात पवनसुत देवन्ह देखा। जानै कहुँ बल बुद्धि बिसेषा॥'* (५। २। १)

(५) *झूठइ लेना झूठइ देना। झूठइ भोजन झूठ चबेना॥*

(६) *काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥'* (७। ४०। २)

'भले भवन………' ये देवर्षि भक्तवर नारदजीके वाक्य हैं जो उन्होंने अपने इष्टदेव भगवान्‌से कहे हैं। भक्त भगवान्‌को दुर्वचन कहे यह अशोभित है, कविको अच्छा न लगा, यह बात रकार-मकाररहित करके जना दिया। *'कहेउ बजाउ………'* ये भक्तराज निषादराज गुहके वाक्य हैं। वे अपनी सेनाको भागवताग्रगण्य श्रीभरतजीसे युद्धकी आज्ञा दे रहे हैं। यह भी भक्त कविको कैसे भाता! अत: इस वाक्यको भी उन्होंने अशोभित जनाया। अत: इसे भी रामनामरहित कर दिया।—*'राम नाम बिनु गिरा न सोहा'।*

और जहाँ सब 'झूठइ झूठ' है वहाँ भला राम-नाम क्यों आवे, वह तो सम्पूर्णत: अशोभित है।

इसी तरह उपर्युक्त (२) और (४) के सम्बन्धमें कुछ कहा जा सकता है। पर इनमेंसे एकमें 'गुरु-आज्ञा' धर्म है और दूसरेमें देवताओंका भाव कुटिल नहीं है। तथापि इनमें भी रकार या मकार नहीं है। जान पड़ता है कि भक्त कविको ये बातें भी अच्छी नहीं लगीं। वसिष्ठजीके वचनोंको माननेसे रामविमुखता आती और देवताओंके इस कार्यसे श्रीसीताशोधकार्यमें विलम्ब होगा। अत: भक्तको कैसे भावे?

वेदान्तभूषणजीका मत है कि श्रीसीता-राम युगलरूप एवं युगल नाममें अभेद बतलाया गया है। यथा—*'गिरा अर्थ जल बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न'*, 'राममन्त्रे स्थिता सीता सीता मन्त्रे रघूत्तमः।' अत: *'राम नाम बिनु गिरा न सोहा'* लिखनेवाले श्रीगोस्वामीजीने अपनी प्रत्येक पंक्तिमें स, त, र और म इन चार अक्षरोंमेंसे कोई-न-कोई अक्षर अवश्य रखा है।

इस मतके अनुसार उपर्युक्त (२) (३) को भी वे रामनामाङ्कित चौपाइयोंमें गिनते हैं।

सम्भवत: ऐसी ही एक-दो चौपाइयाँ और भी मिलेंगी। यदि चौपाईसे चार चरणका ग्रहण करें तब तो सभी रामनामाङ्कित हो जाती हैं।

दो०—परद्रोही परदार रत परधन परअपबाद।
ते नर पाँवर पापमय देह धरे मनुजाद॥ ३९॥

अर्थ—दूसरोंसे द्रोह करते हैं। परस्त्री, पराया धन और परायी निन्दामें आसक्त रहते हैं। ऐसे मनुष्य नीच और पापमय हैं (अर्थात् सर्वाङ्ग मानो पापहीका है)। वे नरदेह धारण किये हुए राक्षस ही हैं॥ ३९॥

टिप्पणी—'*परद्रोही*' कहकर परद्रोहका कारण कहते हैं कि परस्त्री और पराया धन छीनने वा प्राप्त करनेके निमित्त वैर ठानते हैं। परनिन्दा करते हैं जिसमें हम साफ रहें, निन्दा दूसरेके सिर पड़े।

नोट—१ पूर्व काम लोभपरायण कहा। कामी अपनी स्त्रीके साथ, लोभ अपने ही धनके साथ भी हो सकता है, यह पूर्व कहा और यहाँ परदाररत और परधनरत कहा। अतः पुनरुक्ति नहीं है।

२—ऊपर कहा था कि '*जो कहुँ निंदा सुनहिं पराई*' उसमें निन्दा करना न कहा था उसकी पूर्ति 'परअपवादरत' से कर दी अर्थात् निन्दा सुनते भी हैं और करते भी।

३—'*देह धरे मनुजाद*' इति। राक्षस मनुष्योंको खाते हैं और खल अकारण ही मनुष्योंके कर्म, धर्म, धनको खाते हैं। अतः इन्हें भी मनुजाद कहा। (करु०)

४—इस दोहेमें असंतोंमें अधर्मके चारों अंग—असत्य, कठोरता, लोभ और संग—जो धर्मके चारों पादके काटनेवाले हैं, परिपूर्ण दिखाये हैं। '*झूठइ लेना झूठइ देना*' इत्यादि असत्य है, '*बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा। खाइ महा अहि हृदय कठोरा॥*' और 'निर्दय' यह कठोरता है, लोभपरायण स्पष्ट कहा है तथा 'परदाररत' और 'कामपरायण' यह संग है। पुनः, '*परद्रोही परदार रत परधन परअपबाद*' इसीमें क्रमसे कठोरता, संग, लोभ, असत्य—ये चारों अङ्ग आ जाते हैं।

लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न॥ १॥
काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई॥ २॥
जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भए मानहुँ जगनृपती॥ ३॥

शब्दार्थ—**ओढ़न**=ओढ़ने (शरीर ढकने) का वस्त्र। **डासन**=बिछौना। **शिश्नोदर**=शिश्न+उदर=उपस्थेन्द्रिय (लिङ्ग) और पेट। **पर**=तत्पर, प्रवृत्त, सबसे बढ़ा-चढ़ा हुआ, परायण।

अर्थ—लोभ ही उनका ओढ़ना और लोभ ही बिछौना है। लिङ्ग और पेट इन्हीं दो इन्द्रियोंमें तत्पर रहते हैं (अर्थात् परस्त्रीगमन करते और पेट भरते हैं, दूसरा कोई काम उनको नहीं है—'*पाप करत नहिं पेट अघाहीं*') उनको यमपुरका त्रास नहीं है॥ १॥ यदि किसीकी बड़ाई सुनते हैं तो ऐसी लम्बी साँसें लेते हैं मानो जूड़ी आ गयी॥ २॥ और जब किसीपर विपत्ति देखते हैं तो ऐसा सुखी होते हैं मानो संसारभरके राजा हो गये॥ ३॥

करु०, पं०—'लोभ ओढ़ना, लोभ बिछावन' का भाव कि वे लोभमय हैं, जो भी कार्य करते हैं वह लोभके ही विचारसे, दिन-रात सोते-जागते लोभहीके व्यापारमें लगे रहते हैं, सन्तोष छू भी नहीं गया। दिनमें उसीका मनन, स्वप्नमें भी वही व्यवहार।

वि० त्रि०—अब उन खलोंका वर्णन किया जाता है, जो सत्ययुग और त्रेतामें होते ही नहीं। उनका ओढ़ना-बिछौना (बिस्तर) लोभ ही है। जिस भाँति बिना ओढ़ना-बिछौनाके किसीको आराम नहीं मिलता उसी भाँति बिना लोभके उन्हें आराम नहीं मिलता। सुखके लोभसे नित्य नयी आवश्यकताएँ बढ़ाये चले जाते हैं। '**सन्तोषादनुत्तमः सुखलाभः**' को वे जानते ही नहीं। वे सब ओरसे लोभद्वारा आवृत्त हैं, दिन-रात उनका अर्थ-चिन्तामें ही बीतता है। जिस भाँति पशु आहार, निद्रा, भय, मैथुन छोड़कर और कुछ जानते ही नहीं, उसी तरहसे ऐसे खलोंकी विद्या, उद्यम और बुद्धिकी परिधि आहार, निद्रा, भय और मैथुन है, उन्हें पशुओंकी भाँति परलोकका ज्ञान नहीं है, परलोककी प्रवृत्तिको वे असभ्यता मानते हैं, फिर उन्हें परलोकका भय कैसे होगा?

टिप्पणी—१ (क) '*लोभइ ओढ़न लोभइ डासन*' अर्थात् सर्वाङ्ग लोभहीमें आच्छादित है। (ख) '*सिस्नोदर पर जमपुर त्रास न।*' भाव कि परस्त्रीगमनादिका फल यमपुर है पर इसका भी उनको डर नहीं। तात्पर्य कि लोग उनको उपदेश देते हैं पर वे नहीं मानते; क्योंकि वे यमपुरको नहीं डरते।

नोट—१ शिश्नोदरपरायण हैं, यमपुरका त्रास नहीं है, इस कथनसे जनाया कि इन अवगुणोंका फल यमयातना-यमसाँसति है। भा० ३। ३१ में कहा है कि शिश्नोदरपरायणके संगसे मनुष्य नरकमें जाता है। यथा—'**यद्यसद्भिः पथि पुनः शिश्नोदरकृतोद्यमैः। आस्थितो रमते जन्तुस्तमो विशति पूर्ववत्॥**'(३२) तब जो स्वयं शिश्नोदरपरायण है, उसका कहना ही क्या?

२—*'काहू की जौं सुनहिं बड़ाई',* यहाँ *'जौं'* से जनाया कि उनके डरसे कोई किसीकी बड़ाई उनके सामने करता ही नहीं, इसीसे प्रायः सुननेमें आती नहीं, धोखेमें कहीं सुन लें तो सुन लें। दूसरे यह भी जनाया कि यदि कोई कहता भी हो तो पहिले तो उधर कान ही न देंगे। (ख)—पूर्व जो अवगुण कहे थे उनमें कहा था कि *'जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई'* अर्थात् निन्दा सुनने वे स्वयं जाते हैं, जहाँ भी किसीकी निन्दा हो रही हो वहीं खड़े होकर सुनने लगते हैं और यहाँ कहते हैं कि दूसरोंकी प्रशंसा उनको असह्य है, उसको घरपर भी कोई सुनावे तो कदाचित् ही सुने। निन्दाश्रवणसे हर्ष होता है इससे सुनने जाते हैं, बड़ाईसे जूड़ी आती है, इससे उसे नहीं सुनते।

टिप्पणी—२ *'स्वास लेहिं जनु जूड़ी आई।'* भाव कि जैसे जाड़ा देकर ज्वर आनेपर श्वास चलता है वैसी ही इनकी दशा होती है। ज्वर आनेपर भोजन नहीं किया जाता, वैसे ही ये दूसरोंकी प्रशंसा सुनकर उस दिन शोकमें भोजनादि भी नहीं करते। (बैजनाथजीका मत है कि 'सुधर्मी' पुरुषोंके प्रभावसे खलता कर नहीं सकते, इसी डरसे उन्हें ज्वर आ जाता है, अथवा, बड़ाई सह नहीं सकते, बड़ाई सुननेसे घाटा पड़ता है, अतः जूड़ी-सी आ जाती है। यहाँ 'उक्तविषयावस्तूत्प्रेक्षा' है।

३ *'मानहुँ जगनृपती'* मानो जगत्के राजा हैं, इन्हींके हुक्मसे विपत्ति आयी है, ऐसे सुखी हुए। अपने मनका कार्य होनेसे सुख होता है, इसीसे सुखी हुए।-सुखी होनेसे यहाँ 'चतुर्थ उल्लास' अलंकार है। मिलान कीजिये—*'पर हित हानि लाभ जिन्ह केरे। उजरे हरष बिषाद बसेरे॥'* [पूर्व कहा कि परसुख देखनेसे जलन होती है, यथा—*'जरहिं सदा परसंपति देखी।'* सम्पत्ति सुख है, यथा—*'परसुख देखि जरनि सोइ छई'* और यहाँ बताते हैं कि परदुःख देखनेमें सुख होता है—*'जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भए मानहु.........'*]

रा० शं०—'परधनरत' इत्यादि ऊपर कहा, अब दिखाते हैं कि कैसे रत हैं। परधनरत ऐसे कि ऊपर-नीचेसे लोभमें लपटे हैं, परदाररत होनेसे शिश्नोदरपर हैं, पर-अपवादरत होनेसे बड़ाई नहीं सुन सकते।

स्वारथरत परिवार बिरोधी। लंपट काम लोभ अति क्रोधी॥४॥
मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं। आपु गए अरु घालहिं आनहिं॥५॥
करहिं मोहबस द्रोह परावा। संत संग हरिकथा न भावा॥६॥

अर्थ—स्वार्थपरायण हैं, अपने कुटुम्बियोंसे विरोध रखते हैं, काम और लोभमें अत्यन्त आसक्त रहते हैं और अत्यन्त क्रोधी हैं॥४॥ माता, पिता, गुरु और ब्राह्मणको नहीं मानते। आप तो गये-गुजरे हैं ही और दूसरोंको भी नष्ट करते हैं॥५॥ मोहवश दूसरोंसे शत्रुता करते हैं, संतोंका साथ और भगवत्-चरित्र उनको अच्छे नहीं लगते। (भाव कि संतसंग और हरिकथासे मोहका नाश होता है—*'बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।'* जब ये उनको भाते ही नहीं तब मोहवश रहा ही चाहें)॥६॥

नोट—१ पूर्व दोहेमें कहा था कि *'बयरु अकारन सब काहू सों'* इससे जाना गया कि बाहरके लोगोंसे वैर करते हैं, अपने परिवार, भाई-बंधु इत्यादिसे वैर नहीं करते। अब बताते हैं कि असंत स्वार्थवश परिवारसे भी विरोध कर लेते हैं।

खर्रा— पूर्व *'काम क्रोध मद लोभ परायन'* और यहाँ *'लंपट काम लोभ अति क्रोधी'* यह अनेक हेतुसे अनेक अन्वयमें योजित हैं इससे यहाँ पुनरुक्ति नहीं है।

गौड़जी अर्थ करते हैं कि 'काम (सुख) के लोभसे लंपट (विषयी, दुराचारी) हैं, उसमें बाधा होनेसे अति क्रोध होता है—'**संगात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।**' (गीता २। ६२)

वै०—यहाँ *'लंपट'* कहकर जनाया कि काम और लोभके व्यापारमें मन-कर्म-वचनसे लपटे रहते हैं अर्थात् परस्त्री-परधन जिस भाँति मिले उसी उपायमें लगे रहते हैं।

टिप्पणी—*'स्वारथरत परिवार बिरोधी।·········'* इति।-तात्पर्य कि काम और लोभके वश वे परिवारका पद नहीं देते। *'अति क्रोधी'* कहकर सूचित किया कि (वश चला तो) अपने गोत्रवालोंका वध करते हैं (तो भी शान्त नहीं होते)। अथवा स्वार्थरत होकर परिवारका धन लेकर फिर नहीं देते वरन् विरोध करते हैं। (मिलान कीजिये-*'तेज कृसानु रोष महिषेसा', 'बंदौं खल जस सेष सरोषा', 'बचन बज्र जेहि सदा पिआरा।' 'परिवार बिरोधी'* को कहकर ऐसा कहनेसे पाया गया कि यदि उनकी लंपटतापर घरवालोंने कुछ कहा-सुना तो उनपर अत्यन्त क्रोध करते हैं, प्राणके ग्राहक हो जाते हैं)।

२ *'मातु पिता गुर बिप्र न मानहिं'* इति। माननेमें माता सबसे अधिक है इसीसे प्रथम माताका नाम दिया तब क्रमसे पिता, गुरु और ब्राह्मणको कहा। प्रमाण यथा—'**उपाध्यायान् दशाचार्य आचार्याणां शतं पिता। सहस्त्रं तु पितॄन् माता गौरवेणातिरिच्यते॥**' (इति मनुः) पुनः *'न मानहिं'* का भाव कि यदि माता-पितादि दूसरेका पद दिखाते हैं तो वे इनको नहीं मानते और यदि किसीको मानते देखते हैं तो उनको भी सिखा-पढ़ाकर अपने समान कर लेते हैं।

नोट—'मोहवश का' भाव कि अपनेको अमर माने बैठे हैं, समझते हैं कि हम कभी मरेंगे ही नहीं इस मोहमें पड़े होनेसे ही शत्रुता करते हैं। मोह सब मानस-रोगोंका मूल है।

अवगुन सिंधु मंदमति कामी। बेद बिदूषक पर धन स्वामी॥७॥
बिप्रद्रोह पर* द्रोह बिसेषा। दंभ कपट जिअ धरे सुबेषा॥८॥

अर्थ-अवगुणोंके समुद्र हैं (अर्थात् जो अवगुण गिना आये और आगे गिनाते हैं इतने ही इनमें न जानना किंतु इनके अवगुणोंकी थाह न समझो), मंदबुद्धि और कामी हैं। वेदोंके विदूषक हैं, पराये धनके मालिक हैं॥ ७॥ (द्रोह तो सभीसे करते हैं पर) ब्राह्मणों और पर अर्थात् परमेश्वरसे वा, देवताओंसे विशेष द्रोह रखते हैं। उनके हृदयमें पाखण्ड और कपट है और ऊपरसे वे सुन्दर वेष धारण किये रहते हैं॥ ८॥

टिप्पणी—*दंभ कपट जिअ',* यह मनका और सुवेषसे तनका हाल कहा।

नोट—१ (क) *'अवगुन सिंधु'* उस सिन्धुसे विष निकला फिर अनेक रत्न निकले पर असंतसिंधुमें अवगुण-ही-अवगुण हैं। (ख) *'बेद बिदूषक'।* विदूषक भाँड़को कहते हैं। भाव कि भाँड़ोंकी तरह उनकी नकल करते हैं, व्यंगसे मजाक दिल्लगी वा हँसी उड़ाते हैं। प्र० स्वामी लिखते हैं कि ***'कल्प कल्प भरि एक एक नरका। परहिं जे दूषहिं श्रुति करि तरका॥'*** (१००। ४) इस अर्धालीकी सहायतासे '**बेद बिदूषक**' का भाव यह है कि विविध तर्क-कुतर्क करके वेदोंको वि (=विशेष) दूषण लगाते हैं। (ग) '**परधन स्वामी**'। भाव कि वह धन उनका है नहीं पर उसपर अधिकार ऐसा जमाये हैं कि मानो उन्हींका हो एवं उसके मालिक बन बैठते हैं।

२ *'बिसेषा',* यथा—*'बिप्रद्रोह जनु बाँट पर्यो हठि सब सौं बयरु बढ़ावौं।'* (विनय १४२) पहिले विप्रोंको न मानना कहा; अब कहते हैं कि इतना ही नहीं कि उनको न मानें किंतु उनसे द्रोह भी करते हैं। *'न मानहिं'* से इतना ही जाना जाता है कि उनका मान्य आदर-सत्कार नहीं करते हैं, यह नहीं पाया जाता है कि उनसे वैर रखते हैं। (ख) *'दंभ कपट'* इति। धार्मिकपनके यशकी प्राप्तिके लिये धर्मानुष्ठान करनेका नाम दम्भ है। (श्रीरामानुजभाष्य) ऊपर कुछ, भीतर कुछ—यह कपट है। बाहरसे साधुवेष भीतरसे दुष्ट, लोगोंको ठगनेके लिये एवं धर्मकी आड़में आत्माकी श्लाघा दम्भ है। कपट सीधे धोखा है और दम्भ धर्मकी आड़में धोखा है। कपट और दम्भ दोनों आर्थिक लाभके लिये ही प्रायः किये जाते हैं। '**जिअ**' का भाव कि ये दोनों हृदयमें हैं, अतः इनको छिपानेके लिये *'धरे सुबेषा'।*

* खुर—का०, रा० गु० द्वि०।

दो०—ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं।
द्वापर कछुक बृंद बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥ ४०॥

अर्थ—ऐसे अधम और दुष्ट मनुष्य सत्ययुग और त्रेतामें नहीं होते, द्वारपरमें कुछ होंगे और कलियुगमें तो इनके वृन्द-के-वृन्द होंगे॥ ४०॥

टिप्पणी—त्रेतामें खल न थे तब भरतजीने इनके लक्षण क्यों पूछे? उत्तर—उन्होंने केवल परोपकारके लिये पूछा जिसमें आगेके लोग सुनकर भवमें न पड़ें, यथा—'*संत असंतन्ह के गुन भाषे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥*'

नोट—'*ऐसे अधम मनुज खल*' का भाव कि अधम तो वह भी हैं जिनको पूर्व दोहेमें कह आये हैं पर उनसे ये अधिक '*पाँवर पापमय*' और अधम हैं। वा, ऐसे=पूर्वकथित अवगुण युक्त। '*मनुज खल*' का भाव कि अनुजाद खल तो कृतयुग त्रेतामें भी होते हैं पर '*मनुष्य खल*' नहीं होते। '*मनुष्य खल*' द्वापर और कलियुगमें ही होते हैं।

परहित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई॥ १॥
निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥ २॥
नर सरीर धरि जे पर पीरा। करहिं ते सहहिं महाभव भीरा॥ ३॥

अर्थ—हे भाई! दूसरेके साथ भलाई (अर्थात् परोपकार) के समान दूसरा धर्म नहीं है और दूसरेको दुःख देनेके समान कोई पाप एवं नीचता और अधर्म नहीं॥ १॥ हे तात! समस्त पुराणों और वेदोंका यह निर्णय (फैसला) मैंने तुमसे कहा है। पण्डितलोग इसे जानते हैं॥ २॥ जो लोग मनुष्य-शरीर धरकर दूसरोंको पीड़ा देते हैं, वे अत्यन्त भवभय सहते हैं।

टिप्पणी—१ परहित करना और परपीड़ा देना, ये दो बातें कहनेका भाव यह है कि संत-असंतके लक्षण किये उनमेंसे '*परहित सरिस धर्म नहिं*' यह संतलक्षण है और '*पर पीड़ा सम नहिं अधमाई*', यह खलका लक्षण है। '*निर्नय सकल पुरान बेद कर*', यथा— '**अष्टादशपुराणेषु व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्॥**' २ '*जानहिं कोबिद नर*' का भाव कि कदाचित् कोई इस बातपर विश्वास न करे कि यह वेद-पुराणोंका सिद्धान्त है तो उसपर कहते हैं कि पण्डितोंने पढ़ा है, वे इसे जानते हैं। यह 'शब्द प्रमाण' अलंकार है। आगे परपीड़ाका फल कहते हैं। ३—'*नर सरीर धरि*.........' इति (क)—नरशरीर धरकर परपीड़ा करनेका भाव कि नरशरीर ज्ञानका खजाना है, ज्ञानवान् शरीर पाकर जो परपीड़ा करते हैं वे महाभवभीर सहते हैं। जो अज्ञानी शरीर पाकर परपीड़ा करते हैं वे भवभीर सहते हैं। तात्पर्य कि परपीड़ाका फल यह मिलता है कि उनको जन्म-मरणकी दारुण पीड़ा होती है।-(पं०-भाव कि पशु-पक्षी आदि योनियोंमें कर्मकाण्डकी मुख्यता नहीं है)। (ख)-जन्म-मरणको प्राप्त होकर क्या करते हैं सो आगे कहते हैं।

रा० प्र०-'*महाभवभीर सहहिं*'- भवकी महाभीर सहते हैं। अर्थात् जन्मते हैं तुरंत मरते हैं. फिर जन्मते हैं तुरंत मरते हैं फिर जन्मते हैं। इस तरह जन्मने, मरनेके ही भारी दुःख-भोगसे छुटकारा नहीं पाते। '*जनमत मरत दुसह दुख होई*' वही दुःख भोगा करते हैं। अथवा, संसारी होकर पुत्रकलत्रादिके भरण-पोषणकी महाभीर सहते हैं।

करहिं मोह बस नर अघ नाना। स्वारथ रत परलोक नसाना॥ ४॥
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता। सुभ अरु असुभ करम-फल-दाता॥ ५॥
अस बिचारि जे परम सयाने। भजहिं मोहिं संसृत दुख जाने॥ ६॥

अर्थ—मनुष्य मोहवश अनेक पाप करते हैं और स्वार्थमें लगे हैं (इसीसे) उनका परलोक नष्ट हो गया है॥ ४॥ हे भाई! मैं उनके लिये कालरूप होकर उनको भले और बुरे कर्मोंका शुभाशुभ फल देनेवाला

हूँ॥ ५॥ ऐसा विचारकर जो लोग परम चतुर हैं, वे जन्म-मरणका दुःख जानकर मेरा भजन करते हैं॥ ६॥

टिप्पणी—*'करहिं मोह बस नर अघ नाना।'''''''''''* इति। मोह महाशत्रु है। उसके वश होकर तथा स्वार्थपरायण होकर अनेक पाप करते हैं अर्थात् झूठ बोलते, विश्वासघात करते और अवसर पाकर जीवघात करते हैं, इत्यादि, जिससे परलोक गया। आगे इसका फल कहते हैं।

प० प० प्र०—*'कालरूप तिन्ह कहँ।'* मिलान कीजिये—**'कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान्समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।'** (गीता ११। ३२) (अर्थात् मैं लोकोंका नाश करनेवाला बढ़ा हुआ काल हूँ। लोकोंका संहार करनेके लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ)। यहाँ *'काल'* -अक्षय काल, कालके भी काल। अन्य लोकोंका नाशकारक उनको दण्ड देनेवाला जो काल है वह विनाशशील है। *'काल जासु कोदंड'* लं० मं० दोहा देखिये। *'शुभ अरु अशुभ कर्म फलदाता'* में गीताके **'तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्। क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।'** (१६। १९) का भाव है। [अर्थात् जो मेरेसे द्वेष रखते हैं उन क्रूर अशुभ नराधमोंको मैं बारम्बार जन्म-जरा-मरणरूपसे परिवर्तित होनेवाले संसारमें उत्पन्न करता हूँ। वहाँ भी उन्हें उन्हीं आसुरी योनियोंमें ही गिराता हूँ—जो मेरी अनुकूलताकी विरोधी योनियाँ हैं उन्हींमें उनको डालता हूँ। अभिप्राय यह है कि उस प्रकारके जन्मकी प्राप्तिके अनुकूल जो प्रवृत्ति है, उसकी हेतुभूत क्रूर बुद्धिके साथ मैं ही उनका संयोग करा देता हूँ। (श्रीरामानुजभाष्य)]

टिप्पणी—२ *'कर्म फल दाता'* इति। मैं कर्मका फलदाता हूँ। **'अन्तः पुरुषरूपेण कालरूपेण यो बहिः।'** (भा०) कर्मसे ही शुभाशुभ फल मिलता और जन्म-मरण होता है, इसीसे शुभाशुभ फल देनेवाले कर्मोंका त्याग करना आगे कहते हैं। ३ ☞*'जे परम सयाने'* कहकर जनाया कि मेरा भजन करना परम सयानपन है। —*'रामहिं भजहिं ते चतुर नर।'*

त्यागहिं कर्म सुभासुभदायक। भजहिं मोहि सुर नर मुनिनायक॥ ७॥
संत असंतन्ह के गुन भाषे। ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे॥ ८॥

अर्थ—देवता, मनुष्य और मुनीश्वर शुभाशुभ (फल) देनेवाले कर्मोंका त्याग करके मेरा (मुझ सुर-नर-मुनि-नायकका) भजन करते हैं। (भाव यह कि कर्म करते हुए भी निष्काम रहते हैं, शुभाशुभ फलकी इच्छासे कभी कर्म नहीं करते॥ ७॥ संत और असंतोंके जो गुण कहे गये इनको जिन्होंने लख (देख-भाल) रखा है वे संसारमें नहीं पड़ते॥ ८॥

नोट—१ बा० दोहा ५ में कहा है कि *'तेहि ते कछु गुन दोष बखाने। संग्रह त्याग न बिनु पहिचाने॥'* और यहाँ प्रभुके मुखारविन्दसे कहलाया है कि *'ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे।'* दोनोंमें वस्तुतः भेद नहीं है। भाव यह है कि लक्षण जानकर लोग संतोंको पहचानकर उनका संग करेंगे, उनके लक्षणोंको चित्तमें धारण करते रहनेसे वे गुण उनमें भी आ जायँगे। संतसंग होनेसे भवपार होंगे, यह पूर्व ही कह चुके—*'संतसंग अपबर्ग कर''''''''''पंथ।'* जो असंत हैं उनका संग न करेंगे, उनके अवगुणोंसे बचे रहेंगे। इससे भवमें न पड़ेंगे—*'कामी भवकर पंथ।'*

२—शुभफलदायक कर्मका त्याग इससे करते हैं कि स्वर्गादि देनेवाले कर्म भी तो संसारहीमें डालते हैं, शुभफल भोगकर फिर भी पृथ्वीपर जन्म लेना ही पड़ता है, अतः शुभाशुभफलदायकसे सवासिक कर्मोंका त्याग हुआ। निष्काम शुभाशुभकर्म भी मोक्ष देनेको समर्थ नहीं होते, जबतक कि वे भगवदर्पण न हों, अतः शुभाशुभका त्याग कहकर *'भजहिं'* कहा। रा० प० कार कहते हैं कि अद्वैतवादी जो सर्वथा कर्मत्याग कहते हैं सो असम्भव है, बिना गुणातीत हुए कर्मका सर्वथा त्याग हो ही नहीं सकता। इसीसे भगवान् शुभफल देनेवाले तथा अशुभ कर्मोंका त्याग कहते हैं। गीतामें भी यही कहा है। [यथा—**'शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।'** (१२। १७) अर्थात् जो शुभ और अशुभ दोनोंका पूर्णरूपेण त्यागी है वह भक्त मुझे प्रिय है। पापकी भाँति पुण्य भी समान भावसे बन्धनका कारण होनेसे दोनोंका त्याग आवश्यक है।] रा० प्र० कार *'सुरनरमुनि''''''''''नायक'* को 'मोहि' का विशेषण मानते हैं।

वि० त्रि०—*'त्यागहिं कर्म .... नायक'* इति। अब *'परम सयाने'* का लक्षण कहते हैं कि वे संसारको दुःखमय जानकर उसे नहीं भजते। वे मेरा भजन करते हैं। शुभाशुभदायक कर्म करना ही संसारका भजना है। काम्य कर्म और निषिद्ध कर्म ही शुभाशुभदायक हैं, जिसे शुक्ल-कृष्ण कहते हैं। बिना कर्मके कोई क्षणभर भी नहीं रह सकता, यथा—**'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।'** (गीता ३। ५) अतः नित्य-नैमित्तिक कर्म तथा अशुक्ला कृष्ण कर्मका निषेध नहीं है। योगियोंका कर्म अशुक्ला कृष्ण होता है। मैं सुर-नर-मुनिनायक हूँ (यथा—*'जय जय सुरनायक जन सुखदायक'*) वे मेरा भजन करते हैं। **'तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्। भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्॥'** भगवान् कहते हैं कि जो मुझमें मन लगा देते हैं, उन्हें मैं शीघ्र ही मृत्युसंसारसागरसे पार कर देता हूँ।

नोट—३ *'संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता'* और *'सुनहु असंतन्ह केर सुभाऊ'* यह उपक्रम है और *'ते सज्जन मम प्रानप्रिय ....'* और *'ऐसे अधम मनुज खल ....'* उनके उपसंहार हैं। *'संत असंत भेद बिलगाई। प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई॥'* यह पूरे प्रसङ्गका उपक्रम है और *'संत असंतन्ह के गुन भाषे'* यह प्रसङ्गका उपसंहार है।

संतों और असंतोंके गुणोंका मिलान—

असंत	संत
खलन्ह हृदय अति ताप बिसेषी	१ शान्ति अयन, शीतलता
जरहिं सदा परसंपति देखी	२ सुख सुख देखे पर
जब काहू की देखहिं बिपती। सुखी भव	३ परदुख दुख
काम क्रोध मद लोभ परायन	४ *बिगतकाल मम नाम परायन, बिमद बिरागी,*
लोभइ ओढ़न लोभइ डासन। सिस्नोदरपर।	५ लोभामर्ष त्यागी। *परुष बचन कबहूँ नहिं बोलहिं।*
लंपट काम लोभ अति क्रोधी	विषय अलंपट।
निर्दय, स्वार्थरत, कपटी कुटिल	६ *दीननपर दाया, सरलता, मयत्री, अमाया*
मलायन	७ *सांति बिरति बिनती मुदितायन*
करहिं मोहबस द्रोह परावा	८ *सम अभूतरिपु*
बयरु अकारन सब काहू सों	९ *मैत्री*
बिप्रद्रोह परद्रोह बिसेषा	१० *द्विजपदप्रीति धरमजनयित्री*
संतसंग हरिकथा न भावा	११ *मन बच क्रम मम भगति अमाया*
अवगुनसिंधु मंदमति	१२ *गुणमंदिर, शीलगुणाकर*
परद्रोही परदाररत परधन परअपवाद	१३ *सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं*
ते न परहिं भव जिन्ह लखि राखे	१४ *जानेहु तात संत संतत फुर*
(अर्थात् असंतसे बचेंगे)	(अर्थात् इनसे प्रेम करना)
कालरूप तिन्ह कहुँ मैं भ्राता	१५ *ते सज्जन मम प्रानप्रिय*

☞ पंद्रह शेष गुण असंतोंके कहे गये हैं जैसे *'जहँ कहुँ निंदा सुनहिं पराई' 'काहू की जौं सुनहिं बड़ाई। श्वास लेहिं जनु जूड़ी आई'* और *'बोलहिं मधुर बचन जिमि मोरा'* इत्यादि इनकी जोड़में *'गुनमंदिर सुखपुंज'* को ले सकते हैं।

☞ पम्पासरपर प्रभुसे नारदजीने संतोंके लक्षण पूछे और यहाँ भरतजीने संत और असंत दोनोंके भेद अलग-अलग करते हुए संत-लक्षण पूछे हैं। दोनों जगह प्रभुने संतोंके लक्षण कहे हैं; अतः दोनों प्रसंगोंका मिलान तथा संत-असंतोंके भेदका मिलान यहाँ दिया जाता है—

श्रीनारद-प्रसंग	श्रीभरत-प्रसंग
पुनि सादर बोले मुनि नारद	१ करौं कृपानिधि एक ढिठाई। मैं सेवक ....
सुनहु राम बिज्ञान बिसारद	२ *कृपासिंधु गुन ज्ञान बिचच्छन*

संतन्ह के लच्छन रघुबीरा	३ *सुना चहौं प्रभु तिन्ह कर लच्छन*……'।
कहहु नाथ भंजन भवभीरा	४ *प्रनतपाल मोहि कहहु बुझाई*
सुनु मुनि संतन्हके गुन कहऊँ	५ *संतन्ह के लच्छन सुनु भ्राता*
जिन्हतें मैं उनके बस रहऊँ	६ *भरत प्रान सम मम ते प्रानी*
साधुन के गुन जेते। कहि न सकहिं सारद श्रुति तेते	७ *अगनित श्रुति पुरान बिख्याता*
सिरु नाइ बारहिंबार चरनन्हि	८ *हरषे प्रेम न हृदय समाता। करहिं बिनय अति बारहिं बारा*
सुनत पद पंकज गहे	९ (भरतने प्रश्नके पहले भी) गहे प्रभुचरना संतलक्षण—
षटविकारजित, अनघ, अकामा	१-२ *विषय अलंपट, अभूतरिपु, विगत काम*
सुखधाम, मितभोगी, मानद	४—६ *सुखपुंज, लोभामरषत्यागी, सबहि मानप्रद*
मदहीन, धरमगति, परमप्रवीण	७—९ *विमद, मन बचक्रम मम भगति अमाया*
गुणागार, सीतल, मयत्री	१०—१२ *गुणमन्दिर, शीतलता, मयत्री*
तजि मम चरणसरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह	१३ *ममता मम पदकंज*
सरल सुभाउ सबहि सन प्रीती	१४ *सरलता*
सम सीतल नहिं त्यागहिं नीती। जप तप-ब्रत दम संजम नेमा	१५ *सम दम नियम नीति नहिं डोलहिं*
बिप्रपदप्रेमा, दाया	१६—१७ *द्विजपद प्रीति, दीनन्ह पर दाया*
मुदिता ममपदप्रीति अमाया। बिरति बिबेक बिनय बिज्ञाना	१८—२० *शान्ति बिरति बिनती मुदितायन*
दंभमानमद करहिं न काऊ	२१ *आपु अमानी*
गावहिं सुनहिं सदा मम लीला	२२ *मम नाम परायण*
हेतु रहित परहितरत सीला	२३ *परदुख दुख सुख सुख देखेपर*

☞ २४ पम्पासरपर केवल सन्तोंके लक्षण पूछे गये थे, अतः वह लक्षण विस्तारसे कहे गये, उनमेंसे बहुतसे यहाँ न दुहराकर (जैसे कि अचल, अकिंचन, शुचि, *'निज गुन श्रवन सुनत सकुचाहीं। परगुन सुनत अधिक हरषाहीं॥'*, अमितबोध इत्यादि) उन सबको यहाँ *'शील गुणाकर'* पदसे जना दिये।

दो०—सुनहु तात मायाकृत गुन अरु दोष अनेक।
गुन यह उभय न देखिअहि देखिय सो अबिबेक॥ ४१॥

अर्थ—हे तात! सुनो। मायाके रचे हुए अनेक गुण और दोष हैं। लाभ इसीमें है कि दोनोंको न देखे, जो देखिये वह अज्ञान है॥ ४१॥

रा० प०, रा० प्र०—*'सुनहु तात'*। सिद्धान्त कठिन विषय कहना है, अतः *'सुनहु'* कहकर पुनः सावधान करते हैं। *'तात'* यहाँ वात्सल्यद्योतक है। गुण-दोषको मायाकृत कहा क्योंकि केवल सत्वसे इनकी सृष्टि असम्भव है। गुण और दोष साथ रहते हैं। गुण बहुत और दोष सूक्ष्म होनेपर गुण ही कहलाता है और दोष बहुत और गुण सूक्ष्म होनेसे दोष ही कहलाता है। विवेकी दोनोंपर नजर नहीं डालते।

टिप्पणी—'मायाकृत गुण और दोष' कहनेका भाव कि सन्तोंके जो लक्षण हैं वे भागवत्कृत हैं, मायाकृत नहीं हैं। इन लक्षणोंको समझकर हृदयमें रखे और जो असन्तोंके लक्षण हैं वे मायाकृत हैं उनकी ओर दृष्टि न करे; क्योंकि मायाकृत गुण-दोष बन्धनमें डालनेवाले हैं।

वै०—लोकसुखदायक यावत् सत्कर्म हैं वे गुण हैं और दुःखदायक यावत् असत्कर्म हैं वे दोष हैं। ये दोनों मायाके उत्पन्न किये हुए हैं। इन दोनोंको न देखनेका भाव कि शुभाशुभ कर्म त्यागकर शुद्ध सच्चा प्रेम ईश्वरमें करना, यह साधुओंका मुख्य विवेक है और ईश्वरका स्नेह त्यागकर शुभाशुभकर्म ग्रहण किये रहना यह गुण-दोषको देखना है जो असन्तोंका मुख्य अवगुण है।

नोट—श्रीमद्भागवतमें भी भगवान्ने श्रीउद्धवजीसे कहा है—'**परस्वभावकर्माणि न प्रशंसेन्न गर्हयेत्।**

विश्वमेकात्मकं पश्यन्प्रकृत्या पुरुषेण च॥' (११। २८। १) (अर्थात्) समस्त संसार एक ही प्रकृति और पुरुषका रूप है, सब एक अधिष्ठानस्वरूप ही है, ऐसा जानकर किसीके स्वभाव या कर्मकी न तो निन्दा करनी चाहिये और न स्तुति ही।

इस निषेधका कारण भी आगे कहा है कि जो पराये स्वभाव या कर्मकी निन्दा या स्तुति करता है वह अपने परमार्थरूपी यथार्थ स्वार्थपदसे च्युत हो जाता है, क्योंकि साधन तो नानात्व अर्थात् द्वैतके अभिनिवेशका, उसके प्रति सत्यत्वबुद्धिका निषेध करता है और प्रशंसा तथा निन्दा उसकी सत्यताके भ्रमको और भी दृढ़ करती है। जब जीव आत्मस्वरूपको भूलकर नाना वस्तुओंका दर्शन करने लगता है तब वह स्वप्नके समान झूठे दृश्योंमें फँस जाता है अथवा मृत्युके समान अज्ञानमें लीन हो जाता है। जब द्वैत नामकी कोई वस्तु ही नहीं है तब उसमें अमुक वस्तु भली है, अमुक बुरी है, अथवा इतनी भली है इतनी बुरी—यह प्रश्न ही कैसे उठ सकता है? जो ज्ञान और विज्ञानकी इस उत्तम स्थितिको जान लेता है वह न तो किसीकी प्रशंसा करता है और न निन्दा ही। वह जगत्में सूर्यकी भाँति समभावसे विचरता है। यथा—**'परस्वभावकर्माणि यः प्रशंसति निन्दति। स आशु भ्रश्यते स्वार्थादसत्यभिनिवेशतः॥ २॥ तैजसे निद्रयाऽऽपन्ने पिण्डस्थो नष्टचेतनः। मायां प्राप्नोति मृत्युं वा तद्वन्नानार्थदृक् पुमान्॥ ३॥ किं भद्रं किमभद्रं वा द्वैतस्यावस्तुनः कियत्।'''''''''४। '''''''''एतद्विद्वान्मदुदितं ज्ञानविज्ञाननैपुणम्। न निन्दति न च स्तौति लोके चरति सूर्यवत्॥ ८॥'**

यह सब भाव इस दोहेमें सूचित कर दिये गये।

इसी प्रकार भा० ११। २१ में भी भगवान्ने उद्धवजीसे कहा है कि कहीं-कहीं शास्त्रविधिसे गुण दोष हो जाता है और दोष गुण। एक ही वस्तुके विषयमें किसीके लिये गुण और किसीके लिये दोषका विधान गुण और दोषोंकी वास्तविकता—पारमार्थिक सत्ताका खण्डन कर देता है। इससे यह निश्चय होता है कि गुण-दोषका यह भेद कल्पित है। तात्पर्य यह है कि संसारके पदार्थोंमें जो गुण-दोषका विधान किया गया है वह उनमें उलझे रहनेके लिये नहीं है, प्रत्युत उसका प्रयोजन उनसे निवृत्त होना ही है। जिन-जिन दोषोंसे मनुष्यका चित्त उपरत हो जाता है उन्हीं वस्तुओंके बन्धनसे वह मुक्त हो जाता है। मनुष्यके लिये यह निवृत्तिरूप धर्म ही परम कल्याणका साधन है। यथा—**'क्वचिद्गुणोऽपि दोषः स्याद्दोषोऽपि विधिना गुणः। गुणदोषार्थनियमस्तद्भिदामेव बाधने॥'** (भा० ११। २१। १६) **'''''''''यतो यतो निवर्तेत विमुच्येत ततस्ततः। एष धर्मो नृणां क्षेमः शोकमोहभयापहः॥'** (१९)

इसके पश्चात् गुण-दोषपर दृष्टि न डालनेके और भी कारण बताये हैं कि दृश्यमान् विषयोंमें कहीं भी गुणोंका आरोप करनेसे उस वस्तुके प्रति आसक्ति हो जाती है। आसक्ति हो जानेसे उसे अपने पास रखनेकी कामना होती है, कामनामें विघ्न पड़नेपर कलह और कलहसे असह्य क्रोध उत्पन्न होता है जिससे अज्ञान छा जाता है और तब चेतनाशक्तिके लुप्त होनेसे मनुष्यमें पशुता आ जाती है। विषयोंका चिन्तन करते-करते वह विषयरूप हो जाता है। इत्यादि (श्लोक १९—२२)।

भगवान्ने अनन्य भक्तका लक्षण मानसमें श्रीहनुमान्‌जीसे यह बताया है—***'सो अनन्य जाके असि मति न टरइ हनुमंत। मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत॥'*** (कि० ३) और श्रीशंकरजीने भी श्रीरामानुरागीका लक्षण ऐसा ही कहा है, यथा—***'उमा जे राम चरन रत बिगत काम मद क्रोध। निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध॥'*** (११२) और अभी-अभी संतका लक्षण कहा ही है कि 'वे सम अभूतरिपु' होते हैं। अतः यदि वे गुण अथवा दोष देखने लगें तो उपर्युक्त अनन्यता, समदृष्टि आदिका नाश ही हो जायगा और इस पथका साधक आगे न बढ़कर गिर ही जायगा।—इत्यादि कारणोंसे गुण और दोष दोनोंका ही देखना वर्जित किया गया।

पं० रा० व० श०—गुण विद्यामायाकृत और अवगुण अविद्याकृत हैं, पर हैं दोनों ही मायाकृत, अतः गुण-दोषदृष्टिके विषयमें यह एक बात कहते हैं कि इस प्रकारकी तत्त्वदृष्टि हो जाय कि चराचरमें हमको देखे, न गुण देखे न अवगुण। सदा यही समझे कि भगवान् ही सब कुछ करनेवाले हैं। वे ही कृपा

करें, इनकी भलाई करें, इनका बस क्या है, संस्कारवश वे ये कर्म कर रहे हैं—इसे प्रभु सर्वोपरि गुण बतलाते हैं और गुण-दोष देखना सबसे अधिक अवगुण बताया। गुणका देखना भी अविवेक कहा; क्योंकि जब एकमें गुण देखेंगे तो दूसरेमें दोषदृष्टि अवश्य होगी। बस यही सोचे कि अपने-अपने संस्कारवश सब जीव कर्म कर रहे हैं, उनमें चित्त न देकर उसे अपनी वृत्तिमें लगाये रहे।

☞ मिलान कीजिये—'**न स्तुवीत न निन्देत कुर्वतः साध्वसाधु वा। वदतो गुणदोषाभ्यां वर्जितः तत्त्वदृङ् मुनिः॥**' (भा० ११।११।१६), '**गुणदोषदृशिर्दोषो गुणस्तूभयवर्जितः।**' (भा० ११।१९।४५) अर्थात् गुण-दोषका देखना ही दोष है। उभयवर्जित ही गुण हैं। गुण-दोषसे रहित समदर्शी मुनिको उचित है कि किसीके भला या बुरा कर्म करने अथवा वाणीसे भला या बुरा बोलनेपर न तो स्तुति ही करे और न निन्दा ही करे।

☞ गुण और दोष दृष्टिके दोष हैं। दृष्टिकोणके भेदसे एक ही कार्य किसीको गुण और किसीको दोष जान पड़ता है। गुण-दोष देखनेवाली वृत्ति दृष्टिका दोष है। इसीसे यह '*अविवेक*' है। दूसरोंके गुण-दोषोंका चिन्तन करना छोड़कर एकमात्र भगवत्-भागवत-सेवा और कथाका रस पान करना चाहिये—'**अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम्।**' (भा० माहात्म्य ४। ८०; गोकर्णवाक्य)

वि० त्रि०—ये अनेक गुण और दोष माया (प्रकृति) के किये हुए हैं, यथा '**प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।**' अर्थात् ये सब (गुण-दोषयुक्त) कर्म प्रकृतिके गुणोंसे किये गये हैं। '**अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते।**' अहंकारसे मोहित हुआ पुरुष अपनेको कर्ता मानता है, अतः विवेक यही है कि दोनों ओर दृष्टि न दे, अपनेको कर्ता न माने। गुण-दोषपर दृष्टि देना अर्थात् अपनेको उसका कर्ता मानना अविवेक है। '*गुन यह उभय न देखिअहि*' ये गुण शब्दका अर्थ अविवेकके जोड़में आनेसे विवेक हुआ।

श्रीमुख बचन सुनत सब भाई। हरषे प्रेम न हृदय समाई॥ १॥
करहिं बिनय अति बारहिं बारा। हनूमान हिय हरष अपारा॥ २॥
पुनि रघुपति निज मंदिर गए। एहि बिधि चरित करत नित नए॥ ३॥

शब्दार्थ—**श्रीमुख**=शोभित या सुंदर मुख। यथा—'*श्रीमुख तुम्ह पुनि कीन्हि बड़ाई।*' (३७। ३), भगवान्‌के मुखके (वचन)।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके मुखके वचन सुनते ही सब भाई हर्षित हुए, उनके हृदयमें प्रेम नहीं समाता। (अर्थात् हृदयसे उमड़कर नेत्रों और शरीरद्वारा बाहर निकल पड़ा)॥ १॥ बारम्बार अति विनय कर रहे हैं। श्रीहनुमान्‌जीके हृदयमें अपार हर्ष है॥ २॥ फिर श्रीरघुनाथजी अपने महलमें गये। इस प्रकार नित्य नये चरित करते हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) '*श्रीमुख*' का भाव कि प्रवीणतासे वचन कहना यही मुखकी श्री अर्थात् शोभा है। (ख) '*करहिं बिनय अति बारहिं बारा*' इति। प्रेमके मारे बारम्बार विनती करते हैं। यह प्रेमका वचनद्वारा बाहर प्रकट होना कहा। पहिले प्रेम होना कहा और यहाँ प्रेमकी दशा कही।—[विनय यह कि बड़ी कृपा की, हमको कृतार्थ किया।] (ग) '*हनूमान हिय हरष अपारा*' इति। तात्पर्य कि भाइयोंके हृदयमें प्रेमका आनन्द हुआ और हनुमान्‌जीके हृदयमें अपार हर्ष अर्थात् ब्रह्मानन्द हुआ। दो तरहका हर्ष यहाँ दो मतके अनुसार दिखाया। श्रीशंकराचार्यके मतसे ज्ञान प्रधान है और श्रीरामानुजाचार्य, मध्वाचार्य और निम्बार्क स्वामीके मतसे ईश्वरमें प्रेम होना प्रधान है। [पं० रा० व० श० के मतानुसार 'प्रभुके हृदयमें अपने दासोंका पक्ष और उनकी बड़ाई देख' और रा० प्र० के मतानुसार 'प्रभुके परम अन्तरंग होनेसे' हनुमान्‌जीको अपार हर्ष हुआ और गौड़जीका मत है कि '*हरषे प्रेम न हृदय समाई*' और '*हिय हरष अपारा*' का भाव एक ही है, कुछ भेद नहीं है।]

☞ '*सुंदर उपवन देखन गए।*' (३२। १-२) उपक्रम है और '*पुनि रघुपति निज मंदिर गए*' उपसंहार है। '*सुना चहउँ प्रभु तिन्ह कर लच्छन।*' (३७। ४) वा '*लच्छन सुनु भ्राता*' उपक्रम और '*श्रीमुख बचन सुनत*' उपसंहार है।

नोट—१ *'एहि बिधि चरित करत नित नए'* का तात्पर्य कि मैंने एक दिनका चरित कह दिया। इसी प्रकार नित्यप्रति कोई-न-कोई नया चरित होता रहता है। कभी नारदजी आये, कभी कोई आया, उनके जानेपर इसी तरह भरतादिक पूछते और प्रभु कहते हैं।

बार बार नारद मुनि आवहिं। चरित पुनीत राम के गावहिं॥ ४॥
नित नव चरित देखि मुनि जाहीं। ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं॥ ५॥
सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं। पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं॥ ६॥
सनकादिक नारदहि सराहहिं। जद्यपि ब्रह्मनिरत मुनि आहहिं॥ ७॥
सुनि गुन गान समाधि बिसारी। सादर सुनहिं परम अधिकारी॥ ८॥

अर्थ—श्रीनारदमुनि बार-बार (अर्थात् प्रतिदिन श्रीअयोध्यापुरीमें) आते हैं और श्रीरामजीके पवित्र चरित, जिनके कहने-सुननेसे लोग पवित्र होते हैं, गाते हैं॥ ४॥ नित्य नये चरित देखकर मुनि (नारदजी) ब्रह्मलोकको जाते हैं और वहाँ सब कथा कहते हैं॥ ५॥ ब्रह्माजी सुनकर अतिसय सुख मानते हैं और कहते हैं कि हे तात! बारम्बार श्रीरामगुणगान करो॥ ६॥ सनकादिक नारद मुनिकी प्रशंसा करते हैं यद्यपि वे मुनि (सनकादि) स्वयं ब्रह्मानन्दमें अनुरक्त रहते हैं। (भाव कि ब्रह्मानन्दसे रामचरितमें अधिक आनन्द है)॥ ७॥ गुणगान सुनकर समाधिको भुलाकर वे आदरसहित रामचरित सुनते हैं। वे रामचरितके परम अधिकारी हैं॥ ८॥

नोट—१ *'ब्रह्मलोक सब कथा कहाहीं'* इति। *'सब'* अर्थात् समस्त देवता कहलाते हैं और सब कथा कही जाती है। ब्रह्मलोकमें शिवजी भी कथा सुनने आते हैं। (करु०) *'कहाहीं'* में कहलाते और कहते दोनों भाव हैं।

२ मिलान कीजिये—'**यस्यावतारचरितानि विरंचिलोके गायन्ति नारदमुखा भवपद्मजाद्याः। आनन्दजाश्रुपरिषिक्तकुचाग्रसीमा वागीश्वरी च तमहं शरणं प्रपद्ये॥**' (अ० रा० बा० ५। ४८) अहल्याजी स्तुति करती हैं कि ब्रह्मलोकमें नारदादि ऋषीश्वर, शिवब्रह्मादि देवता सब जिनके अवतार-चरित्र गाते हैं, सरस्वती इस प्रकार आनन्दसे गाती हैं कि प्रेमाश्रुसे उनकी छातीका अग्रभाग भीग जाता है, ऐसे आपकी मैं शरण हूँ।

नोट—३ (क) *'सुनि बिरंचि अतिसय सुख मानहिं।'* अतिशयसे जनाया कि अन्य देवता *'अति'* सुख मानते हैं और ये 'अतिशय'। जो जितना रहस्य समझता है वह उतना ही अधिक सुख मानता है। जैसे राज्याभिषेक और विवाहके समय शिवजीके सम्बन्धमें कहा है—*'सो रस जान महेस।'* *'पुनि पुनि तात करहु गुन गानहिं'* यह *'अतिसय सुख मानहिं'* का चरितार्थ है कि बारम्बार सुननेपर भी तृप्ति नहीं होती। यथा—'**वयं तु न वितृप्याम उत्तमश्लोकविक्रमे। यच्छृण्वतां रसज्ञानां स्वादु स्वादु पदे पदे॥**'(भा० १। १। १९) तथा '**सत्संगान्मुक्तदुःसङ्गो हातुं नोत्सहते बुधः। कीर्त्यमानं यशो यस्य सकृदाकर्ण्य रोचनम्॥**'(१। १०। ११) अर्थात् हम उत्तम यशवाले भगवान्‌के चरित्र सुननेसे, जो कि रसज्ञ श्रोताओंको पद-पदपर अत्यन्त स्वादु प्रतीत होते हैं, कभी नहीं अघाते। (यह शौनकादि ऋषियोंका वाक्य है)। सत्संगद्वारा जिसका दुःसंग छूट गया वह चतुर पुरुष भगवान्‌के सुयशको एक बार सुनकर फिर उसे नहीं छोड़ सकता (यह सूतजीका वाक्य है)। (ख) *'परम अधिकारी।'* अधिकारी वह है जो सदा सादर सुनते हैं, जिनको सत्संग प्रिय है, जिनका गुरुपदमें प्रेम है, जो नीतिमें लगे हैं एवं जो द्विजोंकी सेवा करते हैं इत्यादि। इनमेंसे प्रत्येक अधिकारी हैं। यथा—*'सदा सुनहिं सादर नरनारी। तेइ सुर बर मानस अधिकारी॥'* (१। ३८। २), *'राम कथा के तेइ अधिकारी। जिन्ह के सतसंगति अति प्यारी॥'* (१२८। ६), *'गुरुपद प्रीति नीति रत जेई। द्विज सेवक अधिकारी तेई॥'* (१२८। ७),*'ता कहँ यह बिसेष सुखदाई। जाहि प्रानप्रिय श्री रघुराई॥'* (१२८। ८) और ये सदा सुनते हैं यथा—*'आसा बसन ब्यसन यह तिन्हहीं। रघुपति चरित होइ तहँ सुनहीं॥'*, ऐसे प्रेमी हैं कि समाधि छोड़कर सादर सुनते हैं, यथा—*'सादर सुनहिं परम अधिकारी॥'* और इन्हें सत्संग प्रिय है, यथा—*'तहाँ रहे सनकादि भवानी। जहँ घटसंभव मुनिबर ग्यानी॥'* अतः इनको *'परम अधिकारी'* कहा।

'समाधि बिसारी' यहाँ कहा और आगे दोहेमें कहते हैं *'चरित सुनहिं तजि ध्यान'*; अतः *'समाधि बिसारी'* का अर्थ हुआ 'ध्यान त्यागकर।' समाधि—योगका चरम फल, जो योगके आठ अङ्गोंमेंसे अन्तिम अङ्ग है और जिसकी प्राप्ति सबके अन्तमें होती है। इस अवस्थामें मनुष्य सब प्रकारके क्लेशोंसे मुक्त हो जाता है। चित्तकी सब वृत्तियाँ नष्ट हो जाती हैं, बाह्य जगत्से उसका कोई सम्बन्ध नहीं रहता, उसे अनेक प्रकारकी शक्तियाँ प्राप्त हो जाती हैं और अन्तमें कैवल्यकी प्राप्ति होती है। समाधि अवस्थामें शरीरमें किसी प्रकारकी गति नहीं होती और ब्रह्ममें उनका अवस्थान हो जाता है।

टिप्पणी—*'सुनि गुनगान समाधि बिसारी।.........'* इति। एक दिन देवर्षि नारदके मुखसे कथाका शब्द सुन पड़ा जिससे उनको ज्ञात हुआ कि वे रामचरित गान कर रहे हैं। उस समय वे योगके सात अङ्ग पूरे कर चुके थे और अब समाधिस्थ होनेको थे। गुणगान सुन उन्होंने चरित सुननेके लिये समाधि भुला दी। इसीसे उनको *'परम अधिकारी'* कहा।

खर्रा—१ यद्यपि सनकादि ब्रह्मनिरत हैं तथापि प्रेमातिशयका उत्तमत्व जानकर सराहते हैं। २ *'सादर सुनहिं'* इति। भक्तिकी एकादश भूमिकाएँ हैं। और ज्ञान छठी भूमिकामें हो जाता है। उस ज्ञानके होनेसे प्रेम कथाका अधिकारी होता है।

दो०—जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।
जे हरिकथा न करहिं रति तिन्ह के हिय पाषान॥ ४२॥

अर्थ—श्रीसनकादिक मुनि जो जीवन्मुक्त और ब्रह्मपरायण हैं वे भी ध्यान छोड़कर चरित सुनते हैं (यह जानकर भी) जो हरिकथामें प्रेम नहीं करते उनके हृदय पत्थर (के समान कठोर) हैं॥ ४२॥

नोट—१ *'जीवन्मुक्त'* इति। भगवान्ने उद्धवजीसे मुक्त पुरुषोंकी पहचान इस प्रकार बतलायी है—इन्द्रियाँ अपने विषयोंको और गुण अपने गुणोंको ग्रहण करते हैं ऐसा समझकर वह उन विषयोंके ग्रहण-त्यागमें किसी प्रकारका अहंकार नहीं करता। यह शरीर प्रारब्धके अधीन है। इससे शारीरिक और मानसिक जितने भी कर्म होते हैं वे सब गुणोंकी प्रेरणासे ही होते हैं, ऐसा विचारकर विवेकी पुरुष विषयोंसे विरक्त रहकर शयन, उपवेशन, पर्यटन, स्नान, दर्शन, स्पर्श, भोजन, श्रवण और घ्राण आदि विषयोंको इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करता हुआ उनमें आसक्त नहीं होता, अपनेको उनका कर्ता या भोक्ता नहीं मानता। वह प्रकृतिमें रहकर भी आकाश, सूर्य और अग्निके समान निर्लिप्त रहता है। उसके प्राण, इन्द्रिय, मन और बुद्धिकी समस्त चेष्टाएँ बिना संकल्पके होती हैं। वह शरीरमें स्थित रहकर भी उसके गुणों, धर्मोंसे मुक्त है। किसीके पूजा करनेसे न तो वह सुखी होता है और न पीड़ा पहुँचानेसे दुःखी। वह न तो भला या बुरा कुछ करता है, न कहता है और न सोचता ही है। वे समान वृत्ति रखकर आत्मानन्दमें मग्न रहकर जड़के समान विचरण करते रहते हैं। यथा—**'इन्द्रियैरिन्द्रियार्थेषु गुणैरपि गुणेषु च। गृह्यमाणेष्वहं कुर्यान्न विद्वान् यस्त्वविक्रियः॥'** (भा० ११। ११। ९) **'दैवाधीने शरीरेऽस्मिन्गुणभाव्येन कर्मणा।.......एवं विरक्तः शयने आसनाटनमज्जने। दर्शनस्पर्शनघ्राणभोजनश्रवणादिषु॥'** (१०, ११) **न तथा बद्ध्यते विद्वांस्तत्र तत्रादयन्गुणान्। प्रकृतिस्थोऽप्यसंसक्तो यथा खं सवितानिलः॥'** (१२) **'यस्य स्युर्वीतसंकल्पाः प्राणेन्द्रियमनोधियाम्। वृत्तयः स विनिर्मुक्तो देहस्थोऽपि हि तद्गुणैः॥'** (१४)**.........न कुर्यान्न वदेत्किंचिन्न ध्यायेत्साध्वसाधु वा। आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जडवन्मुनिः॥'** (१७)

टिप्पणी—१ जीवन्मुक्त जो आठों फाँसियोंसे छूटे हैं। २—ध्यान तजकर चरित सुननेका भाव कि ध्यानमें केवल रूप ही है और चरितमें नाम, रूप, लीला एवं धाम चारों हैं। ३—*'जीवन्मुक्त ब्रह्मपर'* अर्थात् देहसे जीवन्मुक्त हैं और हृदयसे ब्रह्मनिरत हैं। ४—*'तिन्हके हिय पाषान'* अर्थात् देखनेमात्रको उनमें प्राण हैं पर समझनेसे वे पाषाणसम जड़ हैं।

नोट—२ ☞ इस कथनसे सूचित किया कि रामचरित्र साधन नहीं है वरन् साध्य वस्तु है—*'सोउ जाने कर फल यह लीला।'* ३—☞ उपमान पाषाणका गुण हित उपमेयमें स्थापन 'द्वितीय निदर्शना' है।

व्यङ्गार्थद्वारा यह उपदेश प्रकट होता है कि प्राणिमात्रको रामचरित्र प्रेमसे कहना-सुनना चाहिये।—(वीर) ४—ध्यान तजकर चरित्र सुननेका हेतु यह है कि चरितसे वह ध्यान सजीव होता है।—(रा० प०)

प० प० प्र०—पाषाण शुष्क, कठोर और जड़ होता है। इससे उपदेश देते हैं कि यदि हृदयको नवनीतसे भी कोमल, स्नेह तैलसे भी अधिक प्रेममय और पूर्ण चेतन बनाना हो तो हरिकथामें रति करनी चाहिये। हरिकथारतिसे हरिपदरति-रसकी प्राप्ति होगी। हरिकथा-रति साधन और साध्य दोनों है।

'पुरजन-उपदेश' 'श्रीरामगीता'

एक बार रघुनाथ बोलाए। गुर द्विज पुरबासी सब आए॥ १॥
बैठे गुर मुनि अरु द्विज सज्जन । बोले बचन भगत भवभंजन*॥ २॥

अर्थ—एक दिन श्रीरघुनाथजीने गुरु, ब्राह्मण और पुरवासियोंको बुलाया और वे सब आये॥ १॥ जब गुरुज़न एवं गुरु, मुनि, ब्राह्मण और सब सज्जन बैठ गये तब भक्तोंके भवके भंजन करनेवाले श्रीरघुनाथजी भवभंजन वचन बोले॥ २॥

नोट—१ दिन-दिन नवीन चरित्र होते हैं, यथा—*'बार बार नारद मुनि आवहिं.........नित नव चरित देखि मुनि जाहीं'।* इनमेंसे एक दिनका चरित पूर्व कह आये, यथा—*'भ्रातन्ह सहित राम इक बारा।'* (३२। १) से *'पुनि रघुपति निज मंदिर गए।'* (४२। २) तक। फिर यह कहकर कि *'एहि बिधि चरित करत नित नये'* अब दूसरे एक दिनका चरित कहते हैं।

टिप्पणी—१ सबको बुलानेका भाव कि श्रीरामजी सबको मुक्त किया चाहते हैं। मुक्ति बिना ज्ञानके नहीं होती, यथा—**'ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः'** इति श्रुतिः। यह वेदमर्यादाकी रक्षा करनेके लिये सबको बुलाकर ज्ञानोपदेश किया। २—*'बैठे गुर मुनि द्विज.........'* इति। (क)—यहाँ *'गुर'* शब्द बड़ेका वाचक है, यथा—*'गुरजन लाज समाज बड़ देखि सीय सकुचानि।'* अर्थात् बड़े-बड़े शिष्ट लोग आये हैं। यदि यहाँ *'गुर'* से वसिष्ठजीका अर्थ लें तो नहीं बनता, क्योंकि श्रीरामजी वसिष्ठजीको देखकर आगेसे चलकर प्रणाम करते हैं; यथा—

१ **'गुर आगमन सुनत रघुनाथा। द्वार आइ पद नाएउ माथा॥'** (अ० ८)
२ **'सीलसिंधु सुनि गुर आगवनू। सीय समीप राखि रिपुदवनू॥ चले सबेग राम.........'**
३ **'धाइ धरे गुरुचरन सरोरुह'** दोहा ५ (३)। इत्यादि।

और, यहाँ तो प्रणाम करना भी नहीं लिखा है। तब *'गुर'* शब्दका वसिष्ठ अर्थ कैसे किया जाय? ३—*'भवभंजन'* विशेषण दिया क्योंकि सबका भव नाश किया चाहते हैं।

नोट—२ प्रायः अन्य सब टीकाकारोंने *'गुर'* से गुरु वसिष्ठका ही अर्थ लिया है। सभामें मुनि और द्विज भी हैं। इनको भी तो 'प्रणाम' नहीं लिखा है। पृथुके पुरजन-उपदेशमें भी सभी हैं। वैसे ही यहाँ भी। दूसरे, यहाँ गुरुकी उपस्थितिका निश्चय इससे भी है कि आगे *'एक बार बसिष्ठ मुनि आये'* की कथाका उपक्रम वा बीज यह प्रसंग है। यहीं भगवान् ऐश्वर्य प्रकट कर देते हैं। *'सब'* शब्द भी यही सूचित करता है। *'मुनि'* से विरक्त, *'द्विज'* से गृहस्थ और सज्जनसे सभी पुरवासी सज्जन जना दिये। इससे जनाया कि यह आम दरबार है।

गौड़जी—यहाँ *'गुर'* से समस्त गुरुजन अभिप्रेत हैं जिनमें कुलपूज्य गुरु वसिष्ठ तथा सभी बड़े लोग आ जाते हैं। इस प्रसंगमें किसीका किसीको प्रणाम या आशीर्वाद आदि कुछ नहीं लिखा। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि बुलाये जानेपर प्रभुके सम्मुख जो लोग पहुँचे उन्होंने यथोचित अभिवादन नहीं किया अथवा गुरुजनोंका यथाविधि स्वयं प्रभुने स्वागत नहीं किया और प्रणाम-आशीर्वाद आदिकी विधि

* 'बैठे सदसि अनुज मुनि सज्जन', 'भवभंजन'—(का०)।

नहीं बरती गयी। कवि इस प्रसंगमें इतना विस्तार करता तो पाठकोंको निरा मूर्ख समझता।—*'अरथ अमित अति आखर थोरे', 'थोरेहि महँ सब कहउँ बुझाई'* इत्यादि उक्तियोंसे मानसकारने अपने वर्णनविधिकी ओर काफी इशारा कर दिया है। छोटे-बड़े सभी तरहके लोग आये हैं, बुलाये गये हैं, फिर सभामें बैठे। आने और बैठनेके बीचमें कोई विशेष वर्णन न करके इशारेसे ही बताया कि यथायोग्य अभिवादनका व्यवहार हुआ है। नहीं तो एक बार बुलाये जाने, सबके आने और तब सभामें बैठनेकी चर्चा न करके और *'गुर द्विज पुरबासी सब आए'* कहकर *'बैठे गुर मुनि द्विज सज्जन'* की पुनरुक्ति न करके इतना ही कहना काफी होता कि एक दिन गुरु-मुनि-द्विज-सज्जनोंकी सभामें भगवान् यों बोले। *'सभा देखि गुर मुनि द्विज सज्जन। बोले बचन भगत भवभंजन॥'* इत्यादि, यों कहते। इस कथाका उपक्रम स्वयं साधारण शिष्टाचारका द्योतक है। यदि यह शंका की जाय कि 'इस सभामें जो बातें प्रभुने श्रीमुखसे कही हैं वह गुरुजनसे नहीं कही जा सकतीं और गुरु वसिष्ठसे तो कदापि नहीं तो इसका सरल और स्पष्ट समाधान यही है कि गुरुजनकी उपस्थितिमें तो यह बातें जरूर कही गयी हैं परंतु सम्बोधन गुरुजनको नहीं किया गया। *'सकल पुरजन'* को सम्बोधन किया गया है और बीच-बीचमें सम्बोधनके शब्द बहुत विनीत हैं। राजाकी ओरसे कहे गये-से नहीं दीखते, बल्कि ऐसा जान पड़ता है कि बड़ा भाई छोटे भाईसे कह रहा है, समानताका भाव है, राजा-प्रजाका नहीं, स्वामी-सेवकका नहीं और पिता-पुत्रका भी नहीं। यह रामराज्य-तन्त्र बहुत ध्यानसे समझने योग्य है। प्रजामें आपसमें कोई नीच-ऊँच नहीं है, यथा—*'मज्जहिं तहाँ बरन चारिउ नर।'* सेवकोंसे भी बराबरीका नाता है, यथा—*'निज कर गृह परिचर्जा करई'* और प्रजा भी इस नातेको पूरे तौरपर मानती है, क्योंकि धोबीतक राजाके आचरणकी टीका करनेमें संकोच नहीं करता और एक दरिद्र ब्राह्मण अपने बेटेकी लाश राजाके सामने लाकर उलाहने देता है और कुत्ता और गृध्र और उल्लूतक निर्भय दरबारमें नालिश करनेको आते हैं।—यह अभय दरबार है, *'कहि न सकहिं रावन भयभीता'* वाली बात नहीं है। इसीलिये सभामें नीच-से-नीच और छोटे-से-छोटे पुरवासीको *'भाई'* कहके सम्बोधन करते हैं। और गुरुजनोंके समक्ष इसीलिये कहते हैं कि कहीं भूल होगी तो वे लोग सुधारनेमें न चूकेंगे। इसके लिये तो गुरुजन क्या छोटे-से-छोटे आदमीके लिये संशोधनका द्वार आरम्भमें ही खोल दिया—*'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥'* जब कहने-सुननेका हक एक अदने-से-अदने पुरवासीको है तो गुरुजनोंका क्या कहना?

'प्रभु तरुतर कपि डार पर ते किय आपु समान। तुलसी कहूँ न राम से साहिब सील निधान॥'

साथ ही सुननेवालोंको यह पूरी आजादी दी गयी है कि जो पसंद आये तो इसके अनुकूल आचरण करना; क्योंकि यह स्वामीकी ओरसे कोई आज्ञा नहीं है और न किसी तरहकी जबरदस्ती है—*'नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जौ तुम्हहि सुहाई॥'* क्या किसी प्रजातन्त्रमें ऐसी आजादी हो सकती है? क्या किसी साम्यवादी सरकारमें रामराज्यके-से सुभीते हो सकते हैं? क्या किसी साम्राज्यमें सम्राट् इस तरहका व्यवहार करता है? किसी भी शासनपद्धतिमें रामराज्यका-सा कोई नमूना कभी देखनेमें नहीं आया। इसीलिये रामराज्यकी शासनपद्धति संसारमें अद्वितीय है और इसीलिये रामराज्यका पर्यायवाची शब्द संसारके कोशमें नहीं है।—विशेष ४३ (३—५) देखिये।

प० प० प्र०—१ *'गुर द्विज पुरबासी सब आए'* और *'बैठे गुर मुनि द्विज अरु सज्जन'* में जो क्रम है उसपर ध्यान देनेसे *'गुर'* शब्दमें वसिष्ठजीका अन्तर्भाव करना ही उचित है। मैं गौड़जीके भावोंसे पूर्ण सहमत हूँ। २—*'बोले भगत भवभंजन'* से वक्तव्यका विषय और उसका हेतु भी सूचित कर दिया। यह भी जनाया कि सभी सभासद् भक्त और अधिकारी थे। आगे *'सुनहु सकल पुरजन'* के *'सुनहु'* से श्रोता-वक्ता-सम्बन्ध सूचित किया। इस प्रकार यहाँ अनुबन्ध-चतुष्टय (विषय, अधिकारी, सम्बन्ध और प्रयोजन) अति संक्षिप्तरूपमें सूचित हैं।

मा० हं०—'रामजीका प्रजाके सम्मुख व्याख्यान' (भा०। ४। २१ में पृथुराजने अपनी प्रजाको उपदेश

किया है। दिख पड़ता है कि गोसाईंजीने यह व्याख्यानकी कल्पना उसीसे ली है परंतु उपयुक्तताकी दृष्टिसे इसका महत्त्व बहुत ही बढ़कर है। इसके कारण ये हैं—

१—गोसाईंजी प्रजाराधक राज्यपद्धतिके पक्षपाती थे, ऐसा दिख पड़ता है।

२—इस राज्यपद्धतिकी अन्तिम मर्यादा अनीतिमान् राजाका प्रजाके ओरसे वर्जन होनेतक पहुँचती हुई दीखती है।

३—इसमें पौरुषहीको दैवसे बलिष्ठ ठहराया है।

४—इसमें ज्ञानकी अपेक्षा भक्तिकी श्रेष्ठताका सिद्धान्त दिया है।

५—इसमें कहा गया है कि शैव-वैष्णवद्वेष केवल बालिशताका लक्षण है।

६—यह सिद्धान्त इसमें दर्शाया है कि सत्समागमके बिना भक्ति साध्य नहीं।

वि० टी०—इस सभाकी बैठकमें आठ द्वार हैं, जो आठों दिशाओंमें एक-एक है। प्रत्येकमें एक-एक मन्त्री बैठता था। मन्त्री अपनी-अपनी दिशाके देशोंकी भाषा, वेष, आचार-विचार-व्यवहारके पूर्ण ज्ञाता होते थे।

सुनहु सकल पुरजन मम बानी। कहौं न कछु ममता उर आनी॥ ३॥
नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई। सुनहु करहु जौ तुम्हहि सुहाई॥ ४॥
सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥ ५॥

अर्थ—सब पुरवासियो! मेरे वचन सुनो। मैं हृदयमें कुछ ममत्व लाकर नहीं कहता हूँ (अर्थात् यह समझकर नहीं कहता हूँ कि ये सब लोक हमारे हैं, जो हम कहेंगे वह ये अवश्य करेंगे)॥ ३॥ न तो कुछ अनीति कहता हूँ और न कुछ प्रभुताई इसमें है (अर्थात् इस भावसे नहीं कहता कि मैं तुम्हारा राजा हूँ, जो मैं कहता हूँ वह राजाज्ञा समझकर मान ही लेना। वरन् प्रभुताका ख्याल छोड़कर सुनो, प्रभुताका भय न रखकर सुनो)। सुनो और यदि तुम्हें रुचे तो करो॥ ४॥ मेरा वही सेवक है और वही बहुत ही प्यारा है जो मेरी आज्ञा माने॥ ५॥

रा० शं० श०—यहाँ *'सुनहु सकल पुरजन'* कहा *'सुनहु सभासद'* नहीं कहा जैसे कि *'सुनहु सभासद भरत सुजाना'*, *'सुनहु सभासद सकल मुनिंदा'* क्योंकि सभामें गुरुजन और ब्राह्मण आदि भी हैं जिनको उपदेश करना माधुर्यमें आप अनुचित मानते हैं और *'पुरजन'* कहनेसे सबका बोध हो जाता है और बात भी अशोभित नहीं होती।

गौड़जी—*'कहौं न कछु ममता उर आनी………'* इति। इस प्रसंगमें *'सकल पुरजन'* को सम्बोधन किया है, जिससे स्पष्ट है कि सकल प्रजाजन अभीष्ट नहीं हैं। प्रजामें तो पौर और जानपद दोनों समाविष्ट हैं। यहाँ केवल नगरके लोग बुलाये गये हैं। अयोध्याविषय (जिला) के लोग नहीं। फिर भी श्रीरघुनाथजी *'सकल पुरजन'* की जगह *'प्रजाजन सब'* कह सकते थे। परंतु यहाँ राजाकी हैसियतसे कहना मंजूर नहीं है। यहाँ बन्धुत्वके भावसे इसलिये पुरजन कहते हैं कि अपनेको भी पुरवासियोंमें शामिल कर लेते हैं। आगेके पदमें इस भावको और स्पष्ट कर देते हैं, जब यह कहते हैं कि अपने हृदयमें मैं कोई ममता लाकर नहीं कहता कि अयोध्या मेरी पुरी है, तुम मेरी प्रजा हो और यह मेरी आज्ञा है। साथ ही यह भी स्पष्ट कर देते हैं कि मैं कोई अनीति अर्थात् कोई जबरदस्ती नहीं कर रहा हूँ कि तुम ख्वाहमख्वाह मेरी बात मानो और जो कुछ कहता हूँ उसमें जरा भी प्रभुताईका भाव नहीं है। [बाबा जयरामदास दीनजी ममताका अन्वय *'बानी'* के साथ करके लिखते हैं कि 'मैं जो कुछ कहता हूँ, उसमें मेरी कोई ममता नहीं है। तात्पर्य कि आप लोग मेरी बातोंको मेरी प्रसन्नताके लिये खामखाह मान ही लें, ऐसा मेरा कोई आग्रह नहीं है। यहाँ *'ममता'* शब्दका अन्वय *'बानी'* के साथ करना ही ठीक है, क्योंकि पुरजनोंपर तो प्रभुकी अत्यन्त ममता है ही, यथा—*'ममता जिन्हपर प्रभुहि न थोरी।'* परंतु आग्रह न होनेका यह मतलब भी नहीं कि मेरे वचन नीति-विरुद्ध होंगे।' (मा० सं०)] प्रभु आज्ञा देता है और वह माननी ही पड़ती

है परंतु मैं जो कुछ कह रहा हूँ उसमें जरा भी ऐसा भाव नहीं है। तुम उसे सिर्फ सुनो और जो तुम्हें पसन्द आवे तभी उसके अनुसार आचरण करो। (इसमें संदेह नहीं कि) वही मेरा सबसे प्यारा सेवक है जो मेरा अनुशासन माने अर्थात् जो न भी मानेगा वह भी मुझे अप्रिय नहीं होगा और जो मेरे अनुशासनपर विचार करेगा और ठीक समझकर पालन करेगा वह प्रियतर होगा और वह भी मेरा प्रिय होगा जो निर्भय होकर मेरे किसी अनुचित भाषणपर मुझे रोकेगा। यहाँ आदिसे अन्ततक मित्रसम्मित वचन हैं और बन्धुत्वका भाव दिखाया गया है। अनुशासन माननेपर भी प्रभुत्वका भाव नहीं है, एक तो इसलिये कि अनुशासन माननेवाला मुझे सबसे अधिक प्यारा होगा, इस कथनसे यह स्पष्ट कर दिया कि और लोग जो अनुशासन नहीं भी मानते वह भी प्यारे हैं, अप्रिय नहीं हैं। दूसरे यह कि आज्ञा शब्द प्रयोग नहीं है। अनुशासनका है। आज्ञा और अनुशासनमें अन्तर है। अनुशासनका अर्थ है शासनकी रक्षाके लिये अथवा शासनके अनुकूल आचरण। आज्ञामें कोई ऐसा भाव नहीं है। यहाँ अनुशासनका भाव यह है कि पिताके जीते-जी युवराजपदके चुनावमें पौर और जानपद सारी प्रजा एकमतसे श्रीरघुनाथजीके पक्षमें थी। अकेले कैकेयीके विरोधसे राजसिंहासनका त्याग करना पड़ा। आज श्रीरघुनाथजी राज्यशासन निर्विरोध भावसे कर रहे हैं। जब प्रजा सर्वसम्मतिसे किसीको राजा मानती है तो उसका यही अर्थ होता है कि वह शासनको पूर्णरूपसे स्वीकार करती है। और, शासनको सफल करनेके लिये उसके अनुकूल आचरण करना प्रत्येक व्यक्तिका कर्तव्य है। यह कर्तव्य क्या-क्या है शासक ही निर्णीत कर सकता है। इन्हीं कर्तव्योंका निर्देश 'अनुशासन' कहलाता है। यहाँ प्रस्तुत प्रसंगमें 'अनुशासन' शब्दको इसी पारिभाषिक अर्थमें लेना चाहिये। श्रीरघुनाथजी यह स्पष्ट कर देते हैं कि वही मेरा सबसे प्यारा सेवक है जो मेरा अनुशासन माने। और कहा भी है—*'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा।'* इस प्रसंगमें यह प्रश्न हो सकता है कि यहाँ तो साफ-साफ सेवकका शब्द है जो प्रभुत्वको प्रतिपादित करता है। और अनुशासन शब्द प्रभुत्वका पूरा समर्थक है इसलिये—*'नहिं कछु प्रभुताई'* का तो तीसरे और चौथे चरणमें ही खण्डन हो जाता है। क्या यह विरोधी वाक्य नहीं है? इस शंकाका समाधान उन्हीं चरणोंमें मौजूद है। जिस प्रजाने उन्हें शासक बनाया और प्रभुका पद दिया उसीने इस नातेसे अपनेको शासित और सेवक ठहराया। यहाँ सेवक इसी भावसे कहा गया है। यहाँ निजी या व्यक्तिगत सेवा अभिप्रेत नहीं है। और न अनुशासनसे साधारण आज्ञा लक्षित है। प्रभुत्वका भाव होता तो न माननेवालेकी कोई गुंजाइश न थी। स्वतन्त्र राजा जो कहता है वही कानून होता है और कानून तोड़ना बगावत है। यहाँ अनुशासन कानून नहीं है बल्कि शासनको चलानेके लिये सभीकी आज्ञा है। अगर कानून होता तो—*'जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ बरजेहु मोहि भय बिसराई॥'* की जरूरत न थी। यहाँ 'भाई' शब्द मार्केका है। ऊपरके 'सेवक' शब्दकी गुत्थीको सुलझा देता है। पुरजन छोटे भाई हैं, राजा बड़ा भाई है। छोटे भाई बड़े भाईका अनुशासन मानते हैं और बड़े भाईकी ओरसे अगर कभी मानवस्वभावोचित कोई अनीति हो जाती है तो छोटे भाई मना करते नहीं डरते, उचित सलाह देते हैं और जब बड़े भाईके कहनेके औचित्यको समझ जाते हैं तो बड़े भाईकी बात मान लेते हैं। लक्ष्मणजीका श्रीरघुनाथजीसे वनगमनके अवसरपर जो संवाद हुआ है जैसा कि वाल्मीकिमें वर्णित है अथवा, भरतजीका चित्रकूटमें जो संवाद हुआ है वह थोड़ा-बहुत इसी कोटिका समझा जा सकता है। पाण्डवोंके चरितमें तो इसके उदाहरण महाभारतमें भरे पड़े हैं। *'भय बिसराई'* और *'न कछु ममता'* इसलिये कहा कि तुम लोग यह न समझना कि मैं राजा हूँ और जो अनुशासन तुम्हारे सामने दे रहा हूँ उसमें जबरदस्तीकी बात होगी और उसे तुम न मानोगे या मेरी भूल दिखाओगे तो मैं नाराज हो जाऊँगा। भयको तो तुम बिलकुल भुला दो अर्थात् मेरे शासक होनेकी बात भूल जाओ। भूल इसलिये जाओ कि साधारणतया शासितके मनमें शासकका भय रहता है क्योंकि वह अपने कर्तव्यपालनमें अनीतिपर दण्ड देता है। और जो तुम यह समझो कि टीका-टिप्पणी करना, अनुशासनको न मानना या विरोध दिखाना, राजाकी अवज्ञा होगी, कानूनशिकनी होगी, बगावत होगी और यह दण्डनीय अपराध होगा तो इस विचारसे तुम कुछ

भी न कह सकोगे। इसलिये मेरे राजा होनेका ध्यान अपने हृदयमें न रखो, राज-भयको भूल जाओ, तभी तुम मेरी अनीतिपर मुझे बरज सकोगे। इतना अंश बड़े महत्त्वका है। इससे पता चलता है कि रामराज्यकी नींवमें कैसी उदात्त और उदार-नीति भरी पड़ी है। इतना बिना समझे इस गीताका वास्तविक तात्पर्य और सच्चा भाव समझमें आ नहीं सकता। आगे दोहा ४३ में देखिये।

पं० रा० व० श०—'**अनीति**'=शास्त्रविरुद्ध। ***'नहिं कछु प्रभुताई'*** अर्थात् यह राजाज्ञा नहीं है न हमारा हठ है कि हमारा कहा अवश्य करो। हम केवल हितोपदेश जानकर कहते हैं।

पं० वि० त्रि०—भाव यह कि मैं तुमलोगोंसे गुह्यातिगुह्य ज्ञान राजा होनेके नातेसे कह रहा हूँ, क्योंकि राजा दण्डधारी गुरु हैं। अतः मेरा तुम्हें उपदेश देना नीतिसम्मत है और मैं तुमलोगोंको इस भाँति आचरण करनेके लिये विवश भी नहीं कर रहा हूँ, अतः इसमें कुछ प्रभुताई नहीं है। मेरे उपदेशपर पूर्णरूपसे विचार करके जैसी इच्छा हो वैसा करो क्योंकि धर्म बलपूर्वक नहीं कराया जा सकता। यथा—'**इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद् गुह्यतरं मया। विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु॥**'

नोट—१ श्रीपृथुजीने जो उपदेश दिया है वह प्रभुताको लेकर ही दिया जैसा उनके '**अहं दण्डधरो राजा प्रजानामिह योजितः। रक्षिता वृत्तिदः स्वेषु सेतुषु स्थापिता पृथक्॥ य उद्धरेत्करं राजा प्रजा धर्मेष्वशिक्षयन्। प्रजानां शमलं भुङ्क्ते भगं च स्वं जहाति सः॥**' (भा० ४। २१। २२, २४) (अर्थात् इस लोकमें ऋषियोंने मुझे प्रजाका राजा बनाया है। अतः मैं प्रजाको दण्ड देनेवाला, उसकी रक्षा करनेवाला, उसे आजीविका देनेवाला और उसे पृथक्-पृथक् अपनी-अपनी मर्यादामें रखनेवाला हूँ। जो राजा प्रजावर्गको धर्म-मार्गकी शिक्षा न देकर उनसे कर ग्रहण करता है वह प्रजाके पापका भागी होता है और अपने ऐश्वर्यसे भ्रष्ट हो जाता है), इन वाक्योंसे स्पष्ट है।—श्रीरामजीके ***'प्रभुताई'*** शब्दमें यही भाव है। वे कहते हैं कि मैं इस प्रभुताके भावसे उपदेश नहीं दे रहा हूँ।

टिप्पणी—१ ***'नहिं अनीति नहिं कछु प्रभुताई।'''''''''*** अर्थात् जो अनीति हो उसे न ग्रहण करना और प्रभुताका भय न मानना। प्रभुताकी बात आगे कहते हैं—***'सोइ सेवक''''''''''।'*** भाव कि मैं प्रभुताकी रीतिसे ऐसा नहीं कहता वरन् सबके हितार्थ कहता हूँ। (☞ राजाओंको इस आदर्श-नीतिको ग्रहण करना चाहिये। श्रीरामजीके वचनसे सिद्ध है कि प्रजाको राजाके अनीति कार्यपर समालोचनाका पूर्णाधिकार था।)

वै०—***'ममता न आनि'*** अर्थात् अपना स्वार्थ मनमें रखकर नहीं कहता। २—***'नहिं कछु प्रभुताई।'*** अर्थात् रजोगुण धारण करके नहीं किंतु सतोगुणसहित शान्तचित्त होकर कहता हूँ। ३—वचन तीन प्रकारके होते हैं—प्रभुसम्मित (जिसमें आज्ञा हो। उचित-अनुचितका विचार न हो। आज्ञापालन जहाँ कर्तव्य है जैसे वेदाज्ञा), सुहृद् सम्मित और कान्तासम्मित (रोचक) ***'सुनहु करहु जो तुम्हहिं सुहाई'*** यहाँतक मित्रवत् सबको समझाकर आगे दो चरणोंमें प्रभुसम्मित वचन कहते हैं।—***'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई। मम अनुसासन मानै जोई॥'*** —(रा० प्र०) और अन्तमें कान्तासम्मित वचन कहे—***'जौं अनीति—।'*** ये नम्रताके वचन हैं।

टिप्पणी—२ ***'सोइ सेवक प्रियतम''''''''''''*** इति। आज्ञा माननेवाला सेवक हूँ। यथा—***'आज्ञा सम न सुसाहिब सेवा'***; और प्रिय भी है, यथा—***'सो सुत प्रिय पितु प्रान समाना। जद्यपि सो सब भाँति अयाना॥'*** यह बात रामजीने इसलिये कही कि जिसमें लोग हमारे वचन मानें।

३—***'मम अनुसासन मानै जोई', 'सोइ सेवक प्रियतम मम सोई।'*** 'श्रुति-स्मृति परमेश्वरकी आज्ञा है। भगवान्‌की आज्ञाका उल्लङ्घन करनेवाला ऊपरसे भक्त भी क्यों न कहलाता हो पर वह वैष्णव नहीं कहा जा सकता, यथा पञ्चरात्रे—'**श्रुतिस्मृतिर्ममैवाज्ञा तामुल्लङ्घ्य यो वर्तयेत्। आज्ञाच्छेदी मम द्वेष्टा मद्भक्तोऽपि न वैष्णवः॥**'

जौं अनीति कछु भाषौं भाई। तौ मोहि बरजहु भय बिसराई॥६॥
बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ सब ग्रंथन्हि गावा॥७॥
साधन धाम मोच्छ कर द्वारा। पाइ न जेहिं परलोक सँवारा॥८॥

अर्थ—हे भाई! यदि मैं कुछ अनीति कहूँ तो भय भुलाकर मुझे डाँटकर मना कर देना॥ ६॥ बड़े भाग्यसे मनुष्य-शरीर पाया है। यह देवताओंको भी दुर्लभ है, ऐसा सभी ग्रन्थ कहते हैं॥ ७॥ (अर्थ, धर्म, काम तीनोंके) साधनका (यह तन) घर है और मोक्षका दरवाजा है। (अर्थात् नरशरीर मोक्षका मुख्य अधिकारी है, इसीसे मोक्षकी प्राप्ति हो सकती है।) जिसने यह शरीर पाकर परलोक न बना लिया— ॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'जौं अनीति कछु भाषौं·········'* इति। (क) *'जौं'* का भाव कि मैं अनीति न कहूँगा, यदि कदाचित् भूलसे अनीति मेरे मुखसे निकल जाय तो। [कहनेवाला अपनी समझमें नीति ही कहता हो पर यह समझनेवालोंपर निर्भर है कि वे उसे नीति समझें वा अनीति। अतएव *'जौं'* संदिग्ध वचन कहा। (पं० रा० व० श०)] (ख) *'भाई'* सम्बोधन यहाँ तुल्यताके भावसे कहा है अर्थात् श्रीरामजी अवधवासियोंको अपने समान समझते हैं इसीसे यहाँ इनको सर्वत्र भाई कहा है, यथा—*'जौं अनीति कछु भाषौं भाई।', 'यह तन कर फल बिषय न भाई', 'सुलभ सुखद मारग यह भाई।', 'यह आचरन बस्य मैं भाई।'* अथवा, *'भाई'* सम्बोधन मधुर वचन है। मधुर वचन कहकर सबको उपदेश कर रहे हैं।—[यह मित्रसम्मित वाणी प्रभु-आज्ञा है। (रा० प्र०)] *'भाई'* शब्दपर विशेष गौड़जीका टिप्पण दोहा ४३ (३-५) में देखिये।

बाबा जयरामदास दीन-*'भाई'* कहकर सम्बोधित करना कितना मधुर और निर्भयकारक है! यह आवश्यकता पड़नेपर श्रोताओंमें बरजनेका साहस पैदा कर देता है। वस्तुतः जीवमात्रके सच्चे कल्याणका पारमार्थिक उपदेश ग्रहण करनेके लिये जबतक श्रोताओंको स्वतन्त्रता और श्रद्धासे संयुक्त श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनका अवसर नहीं दिया जायगा, तबतक उनके हृदयोंमें स्थित कुछ भी संकोच, भय अथवा आशाके कारण वह उपदेश हृदयग्राह्य और स्थायी न होगा।

नोट—१ अब आगे परम गुह्योपदेश *'बड़े भाग·········'* से प्रारम्भ होता है। यह सब गुह्य रहस्य है यह आगे दोहा ४५ के *'औरउ एक गुपुत मत सबहि कहउँ'* के *'औरउ'* शब्दसे स्पष्ट है। जैसे यहाँ पुरजनोंको परम गुह्य भक्तिका उपदेश किया है ऐसे ही आगे श्रीकृष्णावतारमें अर्जुनजीको गुह्यतम भक्तिरूप उपासना नामक ज्ञानका उपदेश करते समय **'इदं तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।'** (गीता ९। १) तथा—**'सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।'** (गीता १८। ६४) ऐसा कहा है। इस तरह जनाया कि सम्पूर्ण गुप्त तत्त्वोंमें भक्तियोग ही गुह्यतम तत्त्व है।

२ *'सुनहु सकल पुरजन मम बानी'* से *'तौ मोहि बरजहु भय बिसराई'* तक आगेके गुह्योपदेशकी भूमिका है कि वह उपदेश कैसा होगा।

टिप्पणी—२ *'बड़े भाग मानुष तनु पावा·········'* इति। (क)—जो देवताको दुर्लभ है उसका हमको मिल जाना, यही बड़ा भाग्य है, पुनः, भाव कि जिसने इसे पाकर मोक्ष न पाया, अपना परलोक न बनाया वह बड़ा अभागा है।

३—*'धाम'* और *'द्वार'* कहकर सूचित किया कि इस शरीरके भीतर मोक्ष और बाहर संसार है।

नोट—३ *'बड़े भाग'* इससे कि *'कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही॥'* अपने कर्मोंसे इसकी प्राप्ति नहीं हो सकती क्योंकि पशु-पक्षी इत्यादि योनियाँ साधनकी नहीं हैं, उनमें साधनका ज्ञान ही नहीं। प्रह्लादजीने दैत्यबालकोंसे यही कहा है—**'दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्'** (भा० ७। ६। १) अर्थात् मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है पर अनित्य होनेपर भी यह पुरुषार्थका साधक है।

पं० रा० व० श०—*'बड़े भाग मानुष तनु पावा। सुर दुर्लभ·········'* इति।-भगवान्ने जब सृष्टिका आरम्भ किया तब अनेक शरीर बनाये पर किसीसे चित्त प्रसन्न न हुआ, जब मनुष्य-शरीर बनाया तब वे प्रसन्न हो कह उठे कि *'अलम्, अलम्, अलम्'* यह बहुत ही अच्छा है।*'साधन धाम मोच्छ कर द्वारा'* यह भी बड़े भाग्यका एक कारण बताते हैं। साधन कर्मसे यदि मोक्ष मिल सकता है तो मनुष्य-शरीरसे ही। देवशरीर एवं तिर्यग्योनिसे नहीं। जो तिर्यग्योनिको मोक्ष मिला वह प्रभुकी असीम करुणासे। उनसे पूर्वशरीरमें या इसी शरीरमें कोई भगवत्-कर्म ऐसा बन गया कि प्रभु रीझ गये। देवता भी चाहते हैं कि हम नरशरीर

पा जाते तो भजन करते, जिस सुकृतसे हमें ब्रह्मलोक मिला उससे हमें वह शरीर मिल जाता। देवशरीर भोग-शरीर है, साधन-शरीर नहीं। इसीसे देवताओंने कहा है-*'धिग जीवन देवसरीर हरे। तव भक्ति बिना भव भूलि परे॥'*

गौड़जी *'बड़े भाग मानुष तनु पावा''''''''मिथ्या दोष लगाइ'* इति। यहाँ भी सम्बोधित पुरजनोंके साथ अपना एकीकरण कर देते हैं-'हम सबने' बड़े भागसे मानुषतन पाया है। बड़े भागसे इसलिये कि सभी ग्रन्थ कहते हैं कि देवताओंको भी यह तन दुर्लभ है, वे भी तरसते हैं, क्योंकि वे अमर हैं, दूसरा शरीर धारण ही नहीं कर सकते। इसलिये मनुष्य-शरीर पा नहीं सकते। और वे तरसते क्यों हैं? इसलिये कि उनका शरीर भोग-शरीर है और मनुष्य-शरीर साधन-धाम है। उनका शरीर कल्पान्ततक उनके लिये बन्धन है और मानव-शरीर मोक्षका द्वार है, आवागमनसे विकास पाते-पाते अन्तमें मोक्ष प्राप्त हो सकता है—**'अनेक जन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।'** मानव-देहमें कल्पान्ततक भ्रमण करनेकी भी आवश्यकता नहीं। उपाय करनेसे बहुत पहले ही मुक्त हो सकता है। परंतु देव-शरीरमें कल्पान्तमें पुण्य क्षीण होनेपर फिर ८४ लक्षयोनियोंमें भ्रमना पड़ता है। यहाँ यह न भूलना चाहिये कि देवयोनिमें भी अमरताकी अवधि है। यथा प्रत्येक मन्वन्तरका एक-एक इन्द्र होता है इस तरह एक कल्पमें १४ इन्द्र होते हैं। जो मनुष्य इन्द्रपदको पहुँच गया वह एक मन्वन्तरतक स्वर्गका भोग करके पुण्यक्षयके उपरान्त फिर मर्त्यलोकमें जन्म लेता है। इन्द्र अपने पदकी कीमत जानता है और पछताता है कि मैं इन्द्रपद भोगने न आया होता तो ७१ चतुर्युगियोंतक स्वर्गीय तुच्छ भोगविलासोंमें न फँसता, बल्कि कभीका मुक्त हो चुका होता। इस तरह यह दुर्लभ तन सब साधनोंमें समर्थ है और सबके साध्य मोक्षके लिये द्वार है।

नोट—४ *'सुर दुर्लभ''''''''द्वारा'* इति। मिलान कीजिये—**'लब्ध्वा जन्माऽमरप्रार्थ्यं मानुष्यं तद् द्विजाग्र्यताम्। तदनादृत्य ये स्वार्थं घ्नन्ति यान्त्यशुभां गतिम्॥ स्वर्गापवर्गयोर्द्वारं प्राप्य लोकमिमं पुमान्। द्रविणे कोऽनुषज्जेत मर्त्योऽनर्थस्य धामनि॥'** (भा० ११। २३। २२-२३) भावार्थ यह है कि भारतवर्षमें मनुष्य-जन्म पाना बड़ा ही दुर्लभ और देवताओंके लिये भी वाञ्छनीय है, देवता भी उसके लिये प्रार्थना करते रहते हैं। फिर मनुष्योंमें द्विज और द्विजोंमें भी ब्राह्मण होना और भी कठिन है। जो लोग इस मनुष्यता, द्विजता और ब्राह्मणताका तिरस्कार करके अपने परम स्वार्थ और परमार्थसे हाथ धो बैठते हैं, आत्म-कल्याणके लिये प्रयत्नशील नहीं होते, उनकी बड़ी दुर्गति होती है। यह मनुष्य-शरीर स्वर्ग और मोक्षका द्वार है, इसे पाकर भी जो अनर्थोंके मूल धनके चक्करमें पड़ा रहे, उससे बड़ा मूर्ख और कौन होगा।

विनयमें भी कहा है—*'हरि तुम्ह बहुत अनुग्रह कीन्हों। साधन धाम बिबुध दुर्लभ तन मोहि कृपा करि दीन्हों॥'* (१०२) मानसमें अन्यत्र भी कहा है—*'नरक स्वर्ग अपबर्ग निसेनी। ज्ञान बिराग भगति सुभ देनी॥'*

श्रीमुचुकुन्द महाराजने भी भगवान्‌से कुछ ऐसा ही कहा है। यथा—**'लब्ध्वा जनो दुर्लभमत्र मानुषं कथञ्चिदव्यङ्गमयत्नतोऽनघ। पादारविन्दं न भजत्यसन्मतिर्गृहान्धकूपे पतितो यथा पशुः॥'** (भा० १०। ५१। ४७) (अर्थात्) इस पवित्र कर्मभूमिमें मनुष्य-जन्म अत्यन्त दुर्लभ है। मनुष्यजीवन इतना पूर्ण है कि उसमें भजनके लिये कोई भी असुविधा नहीं है। इसे पाकर भी जो अपनी मति, गति असत् संसारमें ही लगा देते हैं तथा तुच्छ विषय-सुखके लिये प्रयत्न करते हुए घर-गृहस्थीरूपी अन्धकूपमें पड़े रहते हैं, भगवान्‌के चरणोंका भजन नहीं करते वे उस पशुके समान हैं जो तुच्छ तृणके लोभसे अँधेरे कुएँमें गिर जाते हैं।

'पाइ न जेहि परलोक सँवारा। सो०' भाव कि मोक्ष साध्य वस्तु है, नरशरीर उस मोक्षका द्वार है, साध्य वस्तुके इतने निकट पहुँचकर दरवाजेसे जो लौट आवे और भवमें पड़े तो उससे अधिक अभागा कौन होगा। परलोक सँवारना यही है कि भगवान्‌की भक्ति करके भवपार हो जाय। जिसने यह न किया वह मूर्ख है, यथा—**'मानुष्यं प्राप्य येनाथ नार्चितो हरिरीश्वरः। काकविप्रासिता तेन हारितो कामदो मणिः॥'** अर्थात् हे नाथ! मनुष्य देह पाकर जिसने आपको न भजा वह उस सरीखा है कि जैसे कौएके उड़ानेमें कोई चिन्तामणि फेंककर कौएको हँकावे। पुनः यथा—*'यह भरतखंड समीप सुरसरि थल भलो संगति भली।*

तेरी कुमति कायर! कलप-बल्ली चहति बिष फल फली॥' (वि० १३५। १) (पं० रा० व० श०) ☞ इससे यह उपदेश देते हैं कि नर-शरीर पाकर अब *'बेगि, बिलंब न कीजिये लीजै उपदेस। बीजमंत्र जपिये सोई जो जपत महेस॥'* (वि० १०८) और अपना कल्याण करो।

दो०—सो परत्र दुख पावै सिर धुनि धुनि पछिताइ।
कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥ ४३॥

अर्थ—वह इस लोक और परलोक दोनोंमें दुःख पाता है, सिर पीट-पीटकर पछताता है। काल, कर्म और ईश्वरको मिथ्या दोष लगाता है॥ ४३॥

टिप्पणी—१ **'परस्मिन् इति परत्र'**। **'परस्मिन्'** इसका परत्र निपात होता है। **'परस्मिन्'** यह परलोकका वाचक है। इसी **'परस्मिन्'** को गोसाईंजीने *'परत्र'* कहा है। (परत्र=दूसरी जगह, दूसरे कालमें, परलोकमें)।

२—*'कालहि कर्महि·······'* इति। जब भल-अनभलका ज्ञान है तब कालादिको दोष लगाना मिथ्या है, यथा—*'नाहिन कछु अवगुन तुम्हार अपराध मोर मैं माना। ज्ञान भवन तै दियो नाथ मैं पाइ न सो प्रभु जाना॥'* (विनय०) पुनः, काल ज्योतिषी कहते है, कर्म मीमांसक कहते हैं और ईश्वर नैयायिक कहते हैं। कालको दोष लगाते हैं कि काल अच्छा नहीं रहा, समयका फेर है। कर्मको दोष देते हैं कि (हमारा संचित) कर्म अच्छा नहीं था और ईश्वरको यह दोष देते हैं कि ईश्वरके मनमें ऐसा ही था। [*'मिथ्या दोष लगाइ'*, यथा—*'ज्ञान भवन तनु दियेहु नाथ सोउ पाय न मैं प्रभु जाना। बेनु करील श्रीखंड बसंतहि दूषन मृषा लगावे॥'* (वि० ११४)]

३—*'सिर धुनि धुनि'* पछताते हैं क्योंकि 'मनुष्य-शरीर छोड़ अन्य शरीरसे मोक्ष नहीं होता। इसीसे ईश्वरने परलोक बनानेके लिये नरतनु दिया। क्योंकि दूसरे शरीरका अधिकार रहा, जो कालादिके अधीन हो तो सब उपदेश मिथ्या हो जाते हैं।' [मिलान कीजिये—*'तौ तू पछितैहै मन मींजि हाथ। भयो है सुगम तोको अमर-अगम तनु समुझि धौं कत खोवत अकाथ॥'* (वि० ८४),*'अति दुर्लभ तनु पाइ कपट तजि भजे न राम मन बचन काय·········अब सोचत मनि बिनु भुजंग ज्यों बिकल अंग दले जरा धाय। सिर धुनि धुनि पछितात मींजि कर, कोउ न मीत हित दुसह दाय॥'* (वि० ८३) उपर्युक्त चौपाई और दोहेके पूर्वार्धमें श्रीमद्भागवतके **'ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः। शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥'** (७। ६। ५) इस श्लोकका भाव आ जाता है कि जबतक यह सर्वावयवपूर्ण मानव-शरीर विपत्तिग्रस्त न हो तबतक ही भवभयमें पड़े हुए विवेकी पुरुषको अपने कल्याणका उपाय कर लेना चाहिये।]

गौड़जी—ऐसे मोक्षके साधनको पाकर जो अपना परलोक नहीं सुधारता सो यहाँ लोकोंमें दुःख पाता है और दुःख पानेपर जब खोये हुए अवसरकी सुध आती है तब सिर धुनि-धुनिकर पछताता है कि यह सिर ऐसे अच्छे मौकेको क्यों भूल गया और जैसा कि दस्तूर है अपनी भारी भूलका दोष कभी कालके सिर मढ़ता है कि काल ही सब कुछ कराता है अपने बसकी कोई बात नहीं है। या हमारे प्रारब्धने हमको कुछ करने न दिया, प्रारब्ध कर्मका ही दोष है। अथवा, ईश्वरको दोष लगाता है और कहता है कि जब बिना उसकी मर्जीके एक पत्ता भी नहीं हिलता तब उसकी मर्जी ही न थी कि मैं कुछ करता। अपनी भूल अपने मत्थे न मढ़कर काल-कर्म और ईश्वरको दोष देता है; यह मिथ्या दोष लगाना है।

यहाँ मिथ्या दोष क्यों है, यह जटिल समस्या है। यह बात बिलकुल सच है कि हमारे सभी कर्म कालसे प्रेरित होते हैं, यथा रात सोनेके लिये है और दिन काम करनेके लिये, निद्रा और विविध कर्म कालसे ही प्रेरित हैं, इसी तरह सभी कामोंके विषयमें भी समझना चाहिये। परंतु यह कालकी प्रेरणा मनुष्यको सर्वथा विवश नहीं करती, आत्यन्तिक शीत और आत्यन्तिक ताप, बहुत वर्षा, तेज आँधी, कालकी प्रेरणाएँ हैं, परंतु मनुष्य चाहे तो इन सबको जीतकर अपनी इच्छानुकूल करे। जब नहीं करता तो भूल उसीकी है। प्रारब्ध कर्म मानवशरीरके निमित्तकी परिस्थितिकी रचना करता है। दरिद्र-घरमें जन्म देता है,

विकलाङ्ग बना देता है, ऐसे समाजमें उत्पन्न करता है जिसमें कम-से-कम विकासका अवसर मिले। शरीरको जीर्ण, अल्पायु और रोगग्रस्त बनाकर बढ़नेका कम मौका देता है। फिर भी ऐसी सभी गिरी अवस्थाओंमें वह अपने समर्थ इन्द्रियोंसे काम लेकर निरन्तर भले-बुरे सभी तरहके क्रियमाण कर्म करता रहता है। क्योंकि—'**न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्**।' (गीता ३। ५) अर्थात् एक क्षण भी कोई बिना कर्म किये रह नहीं सकता; अत: प्रारब्धकी बाधा होते हुए भी परलोक सुधारनेका काम वह जरूर कर सकता है। वह प्रारब्धको मिथ्या दोष लगाता है। वह निरन्तर अपने क्रियमाण कर्मोंको तात्कालिक एक सुदूर भोग्य प्रारब्ध और सञ्चित कर्मोंके खातेमें डालता जाता है। उसे कौन इस बातमें रोकता है कि वह परलोक सुधारनेवाले क्रियमाण कर्म न करे? इसपर परमेश्वरको सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ माननेवाला यह कहता है कि मनुष्य क्रियमाण कर्ममें भी स्वतन्त्र नहीं है जैसे ईश्वर कराता है वैसे ही वह करता है। ईश्वर भविष्यको जानता है जिसका अर्थ यह हुआ कि उसने भविष्यको अपने ज्ञानसे निश्चित कर दिया है। उसकी जानकारीसे यदि देवदत्तकी अधोगति होनी है तो देवदत्त लाख जतन करे उसकी सद्गति नहीं हो सकती। हो जाय तो ईश्वरकी त्रिकालज्ञतामें बट्टा लगता है। इसीलिये उसकी भूलका जिम्मेदार ईश्वर ही है। इस तर्कसे यह प्रत्यक्ष है कि सचमुच ईश्वरका ही दोष है परंतु मानसकार कहते हैं कि यह दोष मिथ्या है। इसका समाधान क्या है? ईश्वरके दोषी होनेवाले तर्कको उसके अन्तिम परिणामकी कसौटीपर कसना चाहिये। प्रतिज्ञा यह है कि ईश्वर भविष्यको जानता है अत: भविष्य निश्चित है। परंतु भविष्य किस कालको कहते हैं? दस वर्ष पहलेका भूतकाल और आजका वर्तमान काल २० वर्ष पहिले भविष्यके ही गर्भमें था। अर्थात् ईश्वरने अपनी भविष्यज्ञतासे भूत और वर्तमानको भी निश्चित कर रखा था। इस तरह तीनों कालोंकी सभी घटनाएँ ईश्वरके दिमागमें पहलेसे घटित हो चुकी हैं, तभी तो अर्जुनसे कहा था—'**मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्**।' (गीता ११। ३३) मैंने तो इन्हें पहलेसे मार रखा है, अर्जुन! तू निमित्तमात्र बन जा। यदि ऐसी ही स्थिति है तो कर्म और उसका फल विडम्बनामात्र है। प्रारब्ध, संचित और क्रियमाण सबकी जिम्मेदारी ईश्वरपर है। फिर परलोकके सुधारनेका प्रश्न भी वृथा है और सुरदुर्लभता बकवादमात्र है। इस परिणामसे यही कहना पड़ता है कि प्रतिज्ञामें ही कहीं भूल है। भूल यह है कि परमात्मा त्रिकालज्ञ जरूर है, भविष्यको जाननेकी उसमें उसी तरह शक्ति है जिस तरह हममें देखने-छूने आदिकी शक्ति है परंतु जैसे हम प्रयोजनपर ही इन शक्तियोंको काममें लाते हैं। वैसे ही ईश्वर भी अपनी त्रिकालज्ञता और सर्वज्ञताको प्रयोजनपर ही काममें लाता है। भगवान् शंकर सर्वज्ञ हैं परंतु सतीजीके झूठ बोलनेपर '***देखेउ धरि ध्याना। सती जो कीन्ह चरित सब जाना॥***' यदि सर्वज्ञता ईश्वरके दिव्य शरीरको निरन्तर सतानेवाली व्याधि-सी होती तो न केवल सतीजीके झूठ बोलनेपर ध्यान धरनेकी जरूरत न होती बल्कि वह पहलेसे जान जाते कि सती किस बुरी तरहसे परीक्षा लेगी और उसका कैसा अनिष्ट परिणाम होगा। इस भीषण भविष्यकी जानकारी शिवजीको नहीं है तो भी वह सर्वज्ञ और त्रिकालज्ञ हैं, इसीलिये कि वह चाहें तो सब कुछ जान सकते हैं।

अब उस प्रतिज्ञापर विचार कीजिये। यह प्रतिज्ञा ही भ्रान्त है कि ईश्वर पहलेसे सब कुछ जानता है और निश्चय कर देता है। ईश्वरकी जिम्मेदारी सृष्टिको विशेष प्रकार रचनेमें और प्रकृतिके नियममें है, पुरुष और प्रकृतिके अनुशासनमें रहकर सदाचारी प्राणी पतित नहीं होते। अनुशासनके विपरीत मार्गपर चलनेवालोंका पतन जरूर होता रहता है। मार्गके निश्चयका दोषी जीव है, ईश्वर नहीं।

पं०, शिला—१ परत्र=पर+अत्र=परलोक और इहलोक। २—'*कालहि कर्महि ईस्वरहि*......' इति। अर्थात् इन्हीं तीनोंका किया ही सब होता है, यथा—'*काल सुभाउ करम बरिआई। भलेउ प्रकृति बस चुकइ भलाई॥*' (१। ७। २) यह दोष देना मिथ्या है। इस तरह कि—(क) जो कहते हो कि कलिकाल है, इसमें तो अधर्मकी ओर प्रवृत्ति होना स्वाभाविक है तो उसका उत्तर यह है कि इसीमें तो अनेक संत ऐसे देख

पड़ते हैं कि जिनकी महिमा कोई कह नहीं सकता और अन्य युगोंमें जो फल बड़े कष्ट साधनसे प्राप्त होता था वह इस कालमें नामोच्चारणमात्रसे प्राप्त हो जाता है। तीसरे, इसमें *'मानस पुन्य होहि नहिं पापा।'* चौथे, कालका दोष था तो उसीने तो तुम्हें ऐसे पुण्यक्षेत्रमें जन्म दिया, तब दोष कहाँ था? (ख) कर्मको दोष देना कि निषिद्ध संस्कार हमें इस ओर नहीं आने देते, यह दोष भी मिथ्या है। जैसे औषधिसेवन करके रोग दूर करते हो वैसे ही जप-तपादि करके पूर्वकृत पापोंको पीस डालो। कर्महीने तो तुम्हें नेत्र, कान, हाथ, पैर इत्यादि भगवत्कार्य करनेके लिये दिये, तब वह दूषित कहाँ? दूषित होता तो संत-भगवन्तदर्शनके लिये नेत्र, कथाश्रवणके लिये कान, पूजन-सेवाके लिये हाथ, तीर्थाटनके लिये पैर इत्यादि क्यों देता? (ग) जो कहते हो कि सन्मार्गमें लगनेके लिये हम स्वतन्त्र नहीं, जैसी प्रेरणा ईश्वर करता है वैसा ही हम करते हैं तो यह भी दोष मिथ्या है। क्योंकि यदि तुम ऐसे ईश्वरनिष्ठ हो तो भोजनादिके लिये भी उद्यम न करो, वह स्वयं तुम्हें खिला जायगा, तनपोषणार्थ तो उद्यमी बनते हो और भजनमें आलसी होते हो। यदि ईश्वरको बुरा करना होता तो नरदेह क्यों देता?

पां०—*'मिथ्या दोष लगाइ।'* भाव कि जो तुमने बोया सो ही पाया, जो बोओगे सो पाओगे इसमें न कालका दोष है न कर्मका, न ईश्वरका।

पं० रा० व० श०—*'मिथ्या दोष लगाइ।'* क्योंकि कालादि कोई प्रतिकूल कहाँसे हुए, सब अनुकूल ही तो हुए हैं, काल अनुकूल न होता, कर्म सुधरे न होते और ईश्वरने कृपा न की होती तो मनुष्य-देह ही कब मिलती? नरदेहकी प्राप्ति सबकी अनुकूलता बताती है अतः उनका दोष कहना मिथ्या है। यथा—*'ढाक चढ़त बारी गिरै करै राव सों रोष॥ करै राव सों रोष दोष का प्रभुको दीजै। आपुन कुमति कमाइ परेखो काको कीजै॥ तृषावंत सो जीव सरोवर पर चलि जाई। यह देखी नहिं सुनी जंतु पहँ जल चलि आई॥ 'अग्र' कहै अपराध नर प्रभुजी सदा अदोष। ढाक चढ़त बारी गिरै करै राव सों रोष॥'*

रा० शं०—काल-कर्मादि उन्हींको सताते हैं जो कर्तव्य न जानकर उद्योगहीन हैं, यथा—*'काल कर्म गुन सुभाउ सबके सीस तपत। राम नाम-महिमा की चरचौ चले चपत॥'* (वि० १३०)

वै०—जीवोंकी अवस्था तो काल, कर्म और ईश्वरके अधीन है ही तब कैसे कहा कि *'मिथ्या दोष लगाइ'* ? उत्तर यह है कि जीव ईश्वरांश होनेसे चैतन्य है क्योंकि अपना गुण-स्वभाव सब जानता है, वेद-पुराणादिद्वारा काल, कर्म और ईश्वराज्ञा वेद सिद्धान्त भी जानता है। यह जानकर भी सर्वकाल पापमें रत रहता है और पापभोगका समय आया तब दोष देता है कि हमारे दिन बुरे हैं, इत्यादि। काल, कर्म, ईश्वरका भय तो मानता नहीं, कुकर्म आप करता है, अपनेको दोष नहीं देता। पुनः भगवान्‌के कथनका भाव यह है कि हम भी नरदेह धारण किये हैं तब जैसे हमने विषय त्याग किया है वैसे ही तुम भी त्याग करो।

नोट—बात तो ठीक है कि जो कुछ होता है वह ईश्वरकी ही मर्जीसे। पर यह कथन उच्चकोटिके संतोंके लिये है जो सब प्रकार निष्क्रिय, निष्काम और अनन्यभगवत्-शरण हैं, उन्हींके लिये भगवान्‌ने कहा है कि *'करउँ सदा तिन्हकै रखवारी।'* उनको, क्या बुरा है क्या भला, इसका ज्ञान ही कहाँ? उनका अपना कुछ कर्म है ही नहीं। पर अन्य जीवोंके लिये दैव और पुरुषार्थवाद दोनों हैं, जबतक अहंबुद्धि है तबतक पुरुषार्थ अवश्य करना होगा। उसको भले-बुरेका ज्ञान है, दोनोंका फल भोगना होगा। अच्छा कर्म हुआ, तब वह यह नहीं कहता कि यह ईश्वरकी कृपासे हुआ; तब तो अपने-आप कर्ता बनता है और जब बुरा हुआ या भोग करना पड़ा तब अपना दोष नहीं कहता—यह उसकी धूर्तता है। हाँ! पुरुषार्थ करनेपर भी सफलता न हो तब समझना चाहिये कि हमारे संस्कारों इत्यादिका फेर है। भगवत्परायण होनेहीपर जीवका अपना कर्म कुछ नहीं रह जाता, तभी वह समझता है कि मैं तो यन्त्रमात्र हूँ, भगवान् जब जो चाहें इस शरीरसे कार्य लें यह तो उन्हींका है। जबतक वह दशा नहीं है तबतक काल-कर्मादिको दोष लगाना व्यर्थ है।

भगवान्‌की शक्तिसे ही यह सम्पूर्ण विश्व सचेष्ट है सही, फिर भी यह भूलना न चाहिये कि मनुष्य कर्म करनेमें स्वतन्त्र है। जो भी पाप, अपराध और दोष हैं वे सब उस व्यक्तिके हैं, पर हाँ, यदि वह

अपनेको भगवान्‌का यन्त्र बना दे, कर्तापनका अहंकार सर्वथा त्याग दे, तो उसमें कोई दोष रह नहीं सकता। *'ना मैं कर्त्ता ना किया साहिब कर्ता मोर। करत करावत आपु हैं पलटू पलटू सोर॥'*

भगवान् ही सबके संचालक हैं यह कहकर अपनेको निर्दोष ठहरानेवालेको अपनेसे पहले यह प्रश्न करके उत्तर ले लेना चाहिये कि क्या यदि जो कर्म मैंने किया है वही दूसरा मेरे साथ करे तो मैं उसपर रुष्ट तो न हूँगा? वह भी तो भगवान्‌की इच्छासे ही मेरे साथ ऐसा अपराध करेगा? इतना विचार कर लेनेपर फिर वह ईश्वरको दोष लगा सकेगा, इसमें संदेह है।

दूसरा एक और समाधान यह भी हो सकता है कि यहाँ उपदेश लोकशिक्षार्थ है, शिक्षा बिना पुरुषार्थवादके शिक्षा ही नहीं कही जा सकती। शिक्षाका तात्पर्य यही है कि सुननेवाला उसपर आरूढ़ हो जाय, अतः पुरुषार्थवाद यहाँ मुख्य है।

'साधनधाम……' से लेकर इस प्रसंगके भाव विनयसे स्पष्ट हो जाते हैं—

'लाभ कहा मानुष तनु पाए। काय बचन मन सपनेहु कबहुँक घटत न काज पराए॥ जो सुख सुरपुर नरक गेह बन आवत बिनहिं बुलाए। तेहि सुख कहँ बहु जतन करत मन समुझत नहिं समुझाए॥ परदारा परद्रोह मोहबस कियो मूढ़ मन भाये। गर्भबास दुखरासि जातना तीब्र बिपति बिसराये॥ भय निद्रा मैथुन अहार सब के समान जग जाये। सुर दुर्लभ तनु धरि न भजे हरि मद अभिमान गँवाये॥ गई न निज पर बुद्धि शुद्ध होइ रहे न राम लय लाये। तुलसिदास बीते यह अवसर का पुनि के पछिताये॥' (२०१)

२—*काजु कहा नरतन धरि सार्‍यो। पर उपकार सार श्रुतिको सो धोखे मैं न बिचार्‍यो॥ द्वैत मूल भय सूल सोक फल भवतरु टरै न टार्‍यो। रामभजन तीक्षन कुठार लै सो नहिं काटि निवार्‍यो॥ संसय सिंधु नाम बोहित भजि निज आत्मा न तार्‍यो। जन्म अनेक बिबेकहीन बहु जोनि भ्रमत नहिं हार्‍यो। देखि आन की सहज संपदा द्वेष अनल मन जार्‍यो। सम दम दया दीनपालन सीतल हिय हरि न सँभार्‍यो॥ प्रभु गुरु पिता सखा रघुपति मैं मन क्रम बचन बिसार्‍यो। तुलसिदास यह आस सरन राखिहि जेहि गीध उधार्‍यो॥'* (२०२)

प० प० प्र०—(पुरजनोपदेशका) विषय और प्रयोजन *'भवभंजन'* है इसमें काल, कर्म और ईश्वर प्रतिबन्धक नहीं हैं। परमार्थमें पुरुषार्थ ही मुख्य साधन है, अन्य अति गौण हैं। प्रपंचमें विषयसुख, देह-सुख-दुःख, योग-वियोग, लाभ-हानि, जीवन-मरणमें प्रारब्ध कर्म ही मुख्य है। *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥'* में जो हानि-लाभ कहा है वह प्रापंचिक ऐहिक विषयोंका समझना चाहिये। यह कर्माधीन जन्मानुसार ही मिलेगा।

☞ इस दोहेमें 'ईश्वर' शब्द दिया गया, 'मैं', आदि नहीं। इससे सूचित किया कि भगवान् अभी माधुर्य भावमें हैं। *'देत ईस बिनु हेतु सनेही'* तक यही भाव है पर आगे ऐश्वर्य गुप्त न रख सके।

मा० हं०—लोकशिक्षाका आन्दोलन करनेके लिये ही गोसाईंजीने रामायणकी योजना की। यथार्थमें आन्दोलन करनेवाला केवल ही दैववादी नहीं रह सकता। इसी अनुसार गोसाईंजी भी वैसे नहीं थे, यह बात उन्हींके शब्दोंसे यहाँ स्पष्ट हो रही है—*'साधन धाम मोक्ष कर द्वारा। पाइ न जेहि परलोक सँवारा॥'* *'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ।'*

परंतु गोसाईंजीका मत व्यावहारिक दृष्टिसे ऐसा भी न था कि दैववाद बिलकुल कुछ है ही नहीं। सब दिशाओंसे प्रयत्न हो चुकनेपर उनका दैववाद आरम्भ होता था। यानी उसपर वे अन्तमें जो भरोसा रखते थे, वह केवल ही ईश्वरी इच्छापर हवाला डालकर समाधानका एक साधन समझके ही, जैसे कि—*'मोरे कहे न संसय जाहीं। बिधि बिपरीत भलाई नाहीं॥ होइहि सोइ जो राम रचि राखा। को करि तर्क बढ़ावै साखा॥'*

यहाँ यह न भूलना चाहिये कि ऐसा हवाला डालना भी पौरुषोत्पन्न आत्मविश्वासका ही परिणाम है। बारम्बार यही वाद उपस्थित किया जाता है कि *'हानि लाभु जीवनु मरनु जसु अपजसु बिधि हाथ॥'*, ऐसा कहनेसे वसिष्ठजीद्वारा तुलसीदासजी दैवका ही प्राधान्य प्रख्यापित करते हैं। हमारे मतसे यह शंका ही भ्रममूलक है, क्योंकि 'विधि' शब्द दैववाचक भी है और उद्योगवाचक भी है। ऐसे द्व्यर्थी शब्दोंका

जब उपयोग किया जाता है तब प्रतिपाद्यविषयके सम्पूर्ण सन्दर्भसे ही शब्दार्थ निश्चित करना पड़ता है। यहाँ भाषणका प्रयोजन भरतजीसे राज्य करानेका है। इस कारण 'विधि' का अर्थ उद्योगवाचक ही समझना उचित है। योगवासिष्ठके कट्टर उद्योगवादी वसिष्ठजी ऐसे थोड़ेसे कामके लिये दैववादी बन जायँ और हीलाहवाला करें यह सम्भव ही नहीं।

बाबा जयरामदासजी दीन—यहाँ तो कहते हैं कि—*'कालहि कर्महि ईस्वरहि मिथ्या दोष लगाइ॥'* पर इन्हींने तो कैकेयी अम्बाके प्रति दूसरी तरहके वचन कहे थे, यथा—*'पग परि कीन्ह प्रबोध बहोरी। काल करम बिधि सिर धरि खोरी।'* ऐसा क्यों? इसका सहज समाधान यह है कि देही (आत्मा) और देह—ये दोनों दो पदार्थ हैं। शरीरके जितने सम्बन्ध और व्यवहार हैं, उनसे काल, कर्म और ईश्वरका सम्बन्ध अवश्य है। कालानुसार, कर्मानुसार और ईश्वरके आज्ञानुसार शरीरको सुख-दुःखका प्रारब्ध भोगना ही पड़ता है, उसमें वह स्वतन्त्र न होकर सर्वथा परतन्त्र है। बस, इसी दृष्टिसे अयोध्याकाण्डमें मनुज अनुहारी सुख-दुःख-भोगविषयक निजकृत कर्मका प्रबोध किया गया है। परंतु यहाँपर यह बात है कि जीवात्माको परलोक साधनके क्रियमाण कर्मोंमें काल, कर्म और ईश्वर बाधा नहीं पहुँचाते। यह जीवका ही अपराध है कि कर्म करनेकी स्वतन्त्रता पाकर भी वह उत्तम कर्म भगवदर्थ नहीं करता और परम लाभसे वञ्चित रह जाता है। इसीको लक्ष्यमें रखकर काल, कर्म और ईश्वरपर उसके द्वारा मिथ्या दोष लगानेकी बात कही गयी। अतएव दोनों ही प्रकारके वचन अपने-अपने स्थानपर सार्थक एवं यथार्थ हैं। इसके अतिरिक्त यह भी देखना चाहिये कि 'विधि' शब्दका अर्थ भरतजीने कैसा किया है। उन्होंने भी उसका अर्थ उद्योगार्थक ही किया है, तभी तो गुरुजीकी परीक्षामें, गुरुजीको ही आश्चर्यचकित करके, वे स्वयं पार निकल गये। इसके अतिरिक्त इस वादका निर्णय बालकाण्डमें इस प्रकार है—*'कह मुनीस हिमवंत सुनु जो बिधि लिखा लिलार। देव दनुज नर नाग मुनि कोउ न मेटनिहार॥'* इस प्रश्नको लेकर तुरंत ही उसका उत्तर गोसाईंजीने ऐसा दिया है—*'जो तप करइ कुमारि तुम्हारी। भाविउ मेटि सकहिं त्रिपुरारी॥'* यह सिद्धान्त गहन है। इसी कारण उसमें प्रवेश होनेके लिये यहाँ कुछ आवश्यक बातोंका परिचय कर देते हैं।—(१) 'पौरुष' शब्द ही मानवी शक्तिका बोध दर्शाता है और दैव उस शक्तिकी सुप्तता अथवा ह्रास दर्शाता है। अब बोध यानी चेतन धर्म और सुषुप्ति अथवा ह्रास यानी अचेतनता। परंतु अचेतन चेतनका बाधक नहीं हो सकता यह सिद्धान्त है। फिर दैव उद्योगका बाधक किस प्रकार हो सकेगा?

(२) वादका मूलस्वरूप है—दैवविरुद्ध पौरुष। दैवका अर्थ पूर्व जन्मोंके कर्मोंका (अर्थात् उद्योगका) चेतनधर्मरूप परिपाक है, कारण कहा ही है कि—'**पूर्वजन्मार्जितं कर्म दैवमित्यभिधीयते।**' अब वादका स्वरूप अर्थात् 'पूर्वजन्म-उद्योग-विरुद्ध वर्तमान-जन्म-उद्योग' ऐसा ही हुआ। इस लड़ाईमें जिसका बलाधिक्य होगा वही बली ठहरेगा। फिर दैवहीको प्राधान्य क्यों? *'दैव दैव आलसी पुकारा'*, अर्थात् आलसीका हथियार दैव है। परंतु दैवकी पुकार करनेवालेको भी '**अत्युत्कटैः पुण्यपापैरिहैव फलमश्नुते**' इस वाक्यपर ध्यान देना ही पड़ेगा। फिर पाप-पुण्य यानी उद्योगपर ही अखीरी हुई।

(३) कहते हैं, और उससे हम सहमत भी हैं कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मरूप होनेपर भी उसकी प्रारब्धवशता नहीं छूट सकती। सही है, पर यहाँ बड़ी भारी समझकी भूल होनेका सम्भव है और उससे अवश्य बचना चाहिये। ब्रह्मवेत्ता ब्रह्मीभूत होनेसे उसे कुछ भी विकार बाधक नहीं हो सकता। प्रारब्धवशता केवल उसके देहमात्रको अर्थात् इससे यही पाया गया कि प्रारब्धकी यानी दैवकी शक्ति केवल पाँच भौतिक जड़पर ही चल सकती है, न कि चेतनपर। तात्पर्य, केवल सांसारिक जड़ सम्बन्धोंपर ही दैव अपनी शक्ति चला सकेगा। उद्योगके विशेषतः पारमार्थिक उद्योगके सामने उसे सिर ही झुकाना पड़ेगा।

एहि तन कर फल बिषय न भाई। स्वर्गौ स्वल्प अंत दुखदाई॥ १॥
नर तनु पाइ बिषय मन देहीं। पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं॥ २॥
ताहि कबहुँ भल कहै न कोई। गुंजा ग्रहै परसमनि खोई॥ ३॥

अर्थ—हे भाई! इस शरीर (के पाने) का फल विषय नहीं है। स्वर्ग (का विषय) (नरशरीर धारण करनेका फल नहीं क्योंकि यह भी तो) अत्यन्त थोड़ा है और अन्तमें दु:ख देनेवाला है॥ १॥ जो लोग मनुष्य-शरीर पाकर विषयोंमें मन लगा देते हैं वे मूर्ख अमृतसे बदलकर विष लेते हैं॥ २॥ जो पारसमणि गँवाकर घुँघुचीको ग्रहण करता है उसको कभी कोई भला नहीं कहता॥ ३॥*

खर्रा—'कदाचित् कोई कहे कि नर-शरीरका फल भोग और मोक्ष दोनों कहा गया है। वात्स्यायनादि मुनि इसका खण्डन करते हैं और मीमांसक जैमिनि प्रभृति स्वर्ग फल कहते हैं, सो स्वर्ग भी स्वल्पकालिक है, परमितिकाल है।'

नोट—१ *'एहि तन कर फल.........'* इति। विषय पाँच ही प्रकारके हैं, छठा नहीं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इनसे जन्य जो सुख हैं, वे विषयके सुख हैं। विषयकी प्राप्ति तो पशु-पक्षी आदि सभी योनियोंमें है। इन्द्रियोंका विषय सबको एक ही प्रकारका है। यथा—***'काम क्रोध मद लोभ नींद भय भूख प्यास सबहीके।'*** (वि० १७५) शूकर विष्ठा पाकर उतना ही सुखी है जितना मनुष्य मालपूआ, तस्मई, मोहनभोगादि पाकर। अत: यह निश्चय है कि नर-शरीरका फल विषय-भोग नहीं है; यही होता तो शूकर आदि योनियाँ ही क्या बुरी थीं। (पं० रा० व० श०, पं० रा० कु०) भाव यह है कि देहका सम्बन्ध होनेपर प्राणियोंको इन्द्रियजनित सुख तो दु:खकी भाँति अनायास ही सब योनियोंमें मिल जाता है। अत: उसके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये। यथा—'**सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्। सर्वत्र लभ्यते दैवाद्यथा दु:खमयत्नतः॥ ३॥ तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।**', उसके लिये प्रयत्न करना आयुको व्यर्थ गँवाना है। (प्रह्लादवाक्य असुरबालकोंके प्रति) (मा० सं०) पुन: *'एहि तन'* का भाव कि अन्य-अन्य शरीरोंका फल विषय (भोग) है क्योंकि उनको इस सुखसे अधिक सुख प्राप्त करनेकी योग्यता नहीं है। पर मनुष्य-शरीर भक्तिका अधिकारी है जो सब सुखोंकी खानि है। (रा० शं० श०)

मिलान कीजिये—'**जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्मभिः।**' (भा० १। २। १०), '**भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते। तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञानसम्भवम्॥**' (भा० ११। २५। ३३) अर्थात् इस जीवनका लाभ तत्वजिज्ञासा ही है, इस लोकमें कर्मोंद्वारा प्राप्त होनेवाले स्वर्गादि फल इसके वास्तविक प्रयोजन नहीं हैं। ज्ञान-विज्ञान होने योग्य नरदेह यदि मिल जाय तो गुणोंकी आसक्ति छोड़कर विद्वान् पुरुषोंको मेरा भजन करना चाहिये।

टिप्पणी—१ ***'स्वर्गौ स्वल्प'*** इति। भाव कि मृत्युलोकका विषय क्या है? यह तो स्वर्गलोकके विषयके सामने कुछ नहींके बराबर है। सो उस स्वर्गका भी विषय थोड़े ही दिनोंका होता है; अत: वह भी स्वल्प ही है। तात्पर्य कि मनुष्य-शरीरमें स्वर्ग भी विषय प्राप्त हो जाय तो भी नर-शरीरको विषयोंमें न व्यतीत करना चाहिये। विषय अन्तमें दु:खदायी हैं। *'अंत दुखदाई'* का भाव कि प्रथम भोग करनेसे सुखदायी है। पर जब उस पुण्यका भोग हो जाता है तब स्वर्गसे निकाले जानेपर दु:खदायी होता है। पुन: भाव कि विषय-भोगके अन्तमें जन्म-मरणका दु:ख होता है। [वाचस्पतिजीने भी कहा है कि स्वर्गरूपी अमृतकुण्डके अवगाहन करनेवालोंको भी दु:खरूप अग्निकणको सहना ही पड़ता है—'**मृस्यन्ते हि दु:खरूप अग्निकणिकां स्वर्गसुधामहाह्रदावगाहिनः।**' (पं० रा० व० श०) राजा ययाति और नहुषतकका पतन हुआ। इन्द्रादि भी असुरोंसे पीड़ित रहते हैं, दूसरोंकी बढ़ती देख उनकी छाती जला करती है, अचल अमरत्व प्राप्त नहीं होता। यथा—*'सरगहु मिटत नसावत।'* (वि० १८५) (रा० प्र०)]

---

* १ रा० प्र०—'नवेति यो यस्य प्रकर्षं स तं सदा निन्दति नात्र चित्रम्।
यथा किराती करिकुम्भलब्धां मुक्तां परित्यज्य बिभर्ति गुञ्जाम्॥'

२ वीर—'नर तनु पाइ बिषय मन देहीं' उपमेयवाक्य है, 'पलटि सुधा बिष लेहीं' उपमान वाक्य है। बिना वाचक-पदके दोनोंमें समता बिम्ब-प्रतिबिम्ब-भाव झलकना 'दृष्टान्त अलंकार' है। अमृत देकर विष लेना 'प्रवृत्त अलंकार' है। तत्त्वानुसंधानद्वारा विषयको विष निश्चित करना 'मति संचारी भाव' है।

नोट—२ 'स्वर्गौ स्वल्प' के 'स्वल्प' शब्दसे यहाँ छान्दोग्योपनिषद्‌के '**यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति भूमैव सुखं भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति।**' (अ० ७ खण्ड २३ मन्त्र १) इस मन्त्रका भाव सूचित किया है। अर्थात् जो भूमा (महान्, निरतिशय) है वही सुख है। इससे नीचेके पदार्थ सातिशय (न्यूनाधिक होनेके कारण 'अल्प' हैं, अतः उस) अल्पमें सुख नहीं है। (क्योंकि 'अल्प' तो अधिक तृष्णाका हेतु होता है। और तृष्णा दुःखका बीज है। भूमामें दुःखके बीजभूत तृष्णादिका होना असम्भव है, अतः भूमा ही सुखरूप है) स्वर्ग अल्प है, अतः उसमें सुख कहाँ। यह 'अल्प' से उपक्रम करके दोहा ४६ में '*ताकर सुख सोइ जानै परानंद संदोह*' (रूप भूमा-सुख) से इसका उपसंहार किया है। इस 'भूमा' की व्याख्या छान्दोग्यके अ० ७ खण्ड २४ में की गयी है।

नोट—३ '*एहि तन कर फल''''''''दुखदाई*' में गीता ९। २०-२१ का पूरा भाव है। भाव यह है कि जो वेदान्तप्रतिपाद्य मुझ परमेश्वरको न भजकर, वेदान्तवेद्य मुझको न जानकर, केवल इन्द्रादिके पूजनरूप यज्ञसे बचे हुए सोमरसके पीनेवाले हैं वे स्वर्गादिकी प्राप्तिके विरोधी पापोंसे शुद्ध होकर यज्ञादिद्वारा स्वर्ग-प्राप्तिकी याचना करते हैं, वे पुण्यमय दुःखसे अमिश्रित इन्द्रलोकको पाकर वहाँ देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते अवश्य हैं, पर वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर उन भोगोंके कारणरूप पुण्यकर्मोंका क्षय होनेपर पुनः मृत्युलोकमें वापस लौट आते हैं। अभिप्राय यह है कि वेदान्तप्रतिपादित ज्ञानसे रहित कमनीय स्वर्गादि भोगोंकी कामनावाले पुरुष त्रिवेदविहित धर्मका आश्रय लेकर अल्प, अनित्य स्वर्गादिको भोगकर बार-बार आवागमनको प्राप्त होते हैं। यथा—'**त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते। ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान्दिवि देवभोगान्॥ ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति। एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते॥**' श्रीकपिल भगवान्‌ने भी कहा है कि '**ततस्ते क्षीणसुकृताः पुनर्लोकमिमं सति। पतन्ति विवशा देवैः सद्यो विभ्रंशितोदयाः॥**' (भा० ३। ३२। २१) (अर्थात्) पुण्य क्षीण हो जानेपर देवगण उन्हें ऐश्वर्यभ्रष्ट कर देते हैं और उन्हें विवश होकर तुरंत ही इस लोकमें आना पड़ता है।—विवश होकर पुनः पृथ्वीपर लौटना पड़ता है और अनेक योनियोंमें भ्रमण करना पड़ता है इसीसे '*अंत दुखदाई*' कहा।

मुण्डकोपनिषद्‌में भी श्रुति भगवती कहती है कि इष्ट (यागादि श्रौतकर्म) और पूर्तकर्मों (वापी-कूप-तड़ागादि स्मार्तकर्म) को ही पुरुषार्थके साधन तथा सर्वश्रेष्ठ माननेवाले अविद्यामें पड़े हुए मूर्ख पुरुष इन्हीं कर्मोंको करके अपनेको कृतार्थ माननेवाले कर्मठ लोगोंको कर्मफलविषयक रागके कारण बुद्धिके अभिभूत हो जानेके कारण तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। इसलिये वे आतुर अर्थात् दुःखार्त्त होकर कर्मफल क्षीण हो जानेपर स्वर्गलोकके उच्च स्थानसे इस लोक अथवा इससे निकृष्ट लोकमें (तिर्यङ्नरकादिरूप योनियोंमें) प्रवेश करते हैं। यथा—'**अविद्यायां बहुधा वर्तमाना वयं कृतार्था इत्यभिमन्यन्ति बालाः। यत्कर्मिणो न प्रवेदयन्ति रागात्तेनातुराः क्षीणलोकाश्च्यवन्ते। इष्टापूर्तं मन्यमाना वरिष्ठं नान्यच्छ्रेयो वेदयन्ते प्रमूढाः। नाकस्य पृष्ठे ते सुकृतेऽनुभूत्वेमं लोकं हीनतरं वा विशन्ति॥**' (मुण्डक० १। २। ९-१०) '**आतुराः**' ही मानसका 'दुखदाई' है।

कैसा दुःख होता है यह मन्त्र ८ में '**जङ्घन्यमानाः परियन्ति मूढा अन्धेनैव नीयमाना यथान्धाः।**' इस प्रकार बतलाया है। अर्थात् अंधेसे ले जाये जाते हुए अंधे पुरुष जैसे गड्ढे और काँटे आदिमें गिरते रहते हैं वैसे ही ये भी पीड़ा-पर-पीड़ा उठाते रहते हैं।

भा० ११। १४ में भी भगवान्‌ने कहा है कि धर्म, दान, व्रत आदिको ही जो पुरुषार्थ कहते हैं उनको अपने कर्मानुसार जो लोक प्राप्त होते हैं वे सभी आदि-अन्तवाले हैं, परिणाममें दुःखरूप, तुच्छ आनन्दवाले और शोकसे भरे हुए हैं। यथा—'**केचिद्यज्ञतपोदानं व्रतानि नियमान् यमान्। आद्यन्तवन्त एवैषां लोकाः कर्मविनिर्मिताः॥ दुःखोदर्कास्तमोनिष्ठाः क्षुद्रानन्दाः शुचार्पिताः॥**' (११)

प० पु० भूमिखण्डमें मातलिजीने ययातिसे कहा है कि—स्वर्गमें भी सुख कहाँ है? देवताओंमें भी एक देवताकी सम्पत्ति दूसरेकी अपेक्षा बढ़ी-चढ़ी तो होती ही है, वे अपनेसे ऊपरकी श्रेणीवालोंके बढ़े-

चढ़े हुए वैभवको देख-देखकर जलते हैं। मनुष्य तो स्वर्गमें अपना मूल गँवाते हुए ही पुण्यफलका भी उपयोग करते हैं। जैसे जड़ कट जानेपर वृक्ष विवश होकर पृथ्वीपर गिर पड़ता है, वैसे ही पुण्य क्षीण होनेपर मनुष्य भी स्वर्गसे नीचे आ जाते हैं। इस प्रकार विचारसे देवताओंके स्वर्गलोकमें भी सुख नहीं जान पड़ता। नहुष आदि बड़े-बड़े सम्राट् भी राज्यलक्ष्मीके मदसे उन्मत्त होनेके कारण स्वर्गमें जाकर भी वहाँसे भ्रष्ट हो गये। भला, लक्ष्मीसे किसको सुख मिलता है। यथा—'**प्रायेण श्रीमदालेपान्नहुषाद्या महानृपाः। स्वर्गं प्राप्ता निपातिताः क्व श्रिया विन्दते सुखम्॥**' (६६। १८०) स्वर्गसे लौटनेपर देहधारियोंको मन, वाणी और शरीरसे किये हुए नाना प्रकारके भयंकर पाप भोगने पड़ते हैं। उस समय नरकको अग्निमें उन्हें बड़े भारी कष्ट और दुःखका सामना करना पड़ता है। जो जीव स्थावर योनिमें पड़े हुए हैं; उन्हें भी सब प्रकारके दुःख प्राप्त होते हैं। कभी कुल्हाड़ीसे काटे जाते हैं, कभी छाल निकाली जाती है, कभी हाथी आदि उन्हें समूल नष्ट कर डालते हैं, इत्यादि-इत्यादि। पशुयोनिमें पड़े हुए जीव डंडोंसे पीटे जायँ, चाबुकसे मारे जायँ, कसाइयोंद्वारा काटे जायँ, बाँधे जायँ, इत्यादि, दुःख पशु-शरीरमें भोगने पड़ते हैं। अध्याय ९४ में जैमिनीजीने सुबाहु राजाके पूछनेपर स्वर्गके गुण बताते हुए कहा कि वहाँ किसीको रोग, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, जाड़ा, गर्मी, भूख, प्यास, ग्लानि नहीं सताती, इत्यादि बहुत-से गुण हैं। वहाँका सबसे बड़ा दोष यह बताया है कि दूसरोंकी बढ़ी हुई सम्पत्ति देखकर असंतोष होता है और सहसा पतन होता है। स्वर्ग भोगभूमि है और मर्त्यलोक कर्मभूमि है। उपर्युक्त सब भाव इस अर्धालीमें आ गये।

२ विषयभोगसे कोई तृप्त नहीं होता—इस सम्बन्धमें महाभारतके आदिपर्व अध्याय ७५ में ययातिका इस प्रकार उपाख्यान है।—अपने पुत्र पुरुसे यौवन लेकर ययाति सहस्र वर्षतक विषयभोग करते रहे, अन्तमें विश्वाचीके साथ कुबेरकी फुलवाड़ीमें खेलने लगे। महायश ययाति ऐसा करके भी भोगसे तृप्त नहीं हुए; यह समझकर उन महात्माने यह कविता पढ़ी, कि 'जिस प्रकार आगमें घृत छोड़नेसे आग न बुझकर बढ़ती ही जाती है, उसी प्रकार कामकी वस्तुओंके भोगसे काम निवृत्त न होकर बढ़ जाया ही करता है। रत्नोंसे भरी-पूरी पृथ्वी, स्वर्ण, पशु और स्त्री यह सब वस्तु एक मनुष्यके भोगमें आनेसे भी उससे पूरी-पूरी तृप्ति नहीं हो सकती, यह समझकर शान्तिका आश्रय लेना ही उचित है। जब कोई जन कामना भरनेके लिये कर्म, मन और वाक्यसे प्राणीपर कदापि पापाचरण नहीं करते हैं, तभी वह ब्रह्मको प्राप्त करते हैं। जब कोई जन किसी प्रकारसे भय नहीं खाते और उनसे कोई भय प्राप्त नहीं करता तथा वह किसी कामकी वस्तुपर अभिलाषा और किसीका द्वेष नहीं करते, तभी वह ब्रह्मको प्राप्त करते हैं।' महाप्राज्ञ ययातिने इस प्रकार कामकी तुच्छताका विचारकर बुद्धिसे मनको ठीककर पुत्रसे फिर अपना बुढ़ापा ले लिया।—(शरच्चन्द्रसोमकी टीकासे)

श्रीमद्भागवतमें भी कहा है कि शुक्रकन्या देवयानीके साथ एक सहस्र वर्षतक इन्द्रियों और मनके द्वारा भोग-विलास करते हुए भी तृप्त न हुए, तब अपना पतन समझकर उन्हें वैराग्य हुआ और उन्होंने एक बकरा और कुएँसे निकली हुई बकरीकी कथा देवयानीसे कहकर अन्तमें कहा कि इसी तरह तेरी मायासे मोहित मैं अपने स्वरूपको भूल गया। इत्यादि। आगे प्रायः वही श्लोक हैं जिनका भावार्थ हिंदी महाभारतके उद्धरणमें आ गया। यथा—'**यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते॥ न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते॥**' (भा० ९। १९। १३-१४)

गोस्वामीजीने भी कहा है—'*बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय भोग बहु घीते।*' (वि० १९८)

३—'*नर तन पाइ बिषय मन देहीं*' कहकर जनाया कि विषयोंमें मनको न लगाना चाहिये। उनमें मन लगाना वैसा ही है जैसे सुधा देकर विष ले ले, इत्यादि। भाव यह है जो भगवद्भक्तिसे प्राप्त होता है वह सुख विषयोंसे कदापि नहीं मिल सकता। यथा—'**न तथा विन्दते क्षेमं मुकुन्दं चरणाम्बुजम्।**' (भा० ७। ६। ४) विषय-सुख अनित्य है, संसारमें डालनेवाला है, भक्तिसुख नित्य है, आवागमन छुड़ाकर भगवत्प्राप्ति करानेवाला है।

☞ मिलान कीजिये—*'रामसे प्रीतमकी प्रीति रहित जीव जाय जियत। जेहि सुख सुख मानि लेत सुख सो समुझि कियत॥ जहँ जहँ जेहि जोनि जनम महि पताल बियत। तहँ तहँ तू बिषय सुखहि चहत, लहत नियत॥ कत बिमोह लट्यो फट्यो गगन मगन सियत। तुलसी प्रभु सुजस गाइ क्यों न सुधा पियत॥'* (वि० १३२), *'बिषय सुखद भार सिर को काँधे ज्यों बहत। यौंहि जिय जानि मानि सठ तू साँसति सहत॥'* (वि० १३३), *'राम सनेही सो तैं न सनेह कियो अगम जो अमरनि हूँ सो तनु तोहि दियो॥ दियो सुकुल जन्म सरीर सुंदर हेतु जो फल चारिको। जो पाइ पंडित परम पद पावत पुरारि मुरारिको॥ यहु भरतखंड, समीप सुरसरि थल भलो संगति भली। तेरी कुमति कायर कल्पबल्ली चहति बिषफल फली॥'* (वि० १३५), *'काहेको फिरत मूढ़ मन धायो। तजि हरिचरनसरोज सुधारसु रबिकर जल लय लायो॥ त्रिजग देव नर असुर अपर जग जोनि सकल भ्रमि आयो।"""अजहुँ बिषय कहुँ जतन करत जद्यपि बहु बिधि डहकायो। पावक काम भोग-घृत में सठ कैसे परत बुझायो॥ बिषयहीन दुख मिले बिपति अति सुख सपनेहु नहिं पायो। उभय प्रकार प्रेतपावक ज्यों धन दुखप्रद श्रुति गायो॥ छिन छिन छीन होत जीवन दुर्लभ तनु बृथा गँवायो। तुलसिदास हरि भजहि आस तजि काल उरग जग खायो॥'* (वि० १९९) तथा पद २०१-२०२ जो पूर्व उद्धृत किये गये हैं—इनसे इन अर्धालियोंके भाव स्पष्ट हो जाते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं'* इति। यहाँ सुधा रामभक्ति है जो जन्म-मरण छुड़ानेवाली है और विष विषय है जो जन्म-जन्म मारनेवाला है—*'तुलसिदास हरिनाम सुधा तजि सठ पियत बिषय बिष माँगी।'* (वि० १४०) (ख) *'ते सठ'* का भाव कि मूर्ख छोड़ ऐसा कोई न करेगा कि अमृतको देकर उसके बदलेमें विष ले।

३ (क) *'गुंजा ग्रहै परसमनि खोई'* इति। विषय घुँघुची है, उसके सेवनसे घुँघुचीकी तरह मुँह काला होता है। भक्ति पारस है, सब मनोरथोंकी देनेवाली है। भक्तिका त्याग पारसका खो देना है। (ख) ☞ यहाँ भक्ति और विषय-सेवनका प्रभाव प्रकट दिखाते हैं—विषय-सेवन करनेवालेकी सब निन्दा और भक्ति करनेवालेकी प्रशंसा करते हैं। (ग) *'कबहुँ भल कहै न कोई'* इति। कोई भी भला नहीं कहता अर्थात् विषय-भोग करते समय एवं भोगनेके उपरान्त भी वे भले नहीं कहे जाते। *'कोई'* अर्थात् किसी मतका अवलम्बी क्यों न हो, सभी मतोंवाले भला नहीं कहते। ४ ☞ यहाँ विषयसेवनसे बड़ी हानि दिखाते हैं—(क) *'पलटि सुधा ते सठ बिष लेहीं'*—विष लेनेसे प्राणकी हानि दिखायी। (ख), *'गुंजा ग्रहै परसमनि खोई'*—पारस खोनेसे मालकी हानि दिखायी। अर्थात् जान और माल दोनोंकी हानि हुई। विषयभोगसे जन्म व्यर्थ हो जाना जानकी हानि है और भक्तिकी हानि होना मालकी हानि है। [पुनः भाव कि जैसे कोई गुंजाकी ऊपरकी सुन्दरता देख पारसके बराबर तोलकर ले ले, वैसे ही ये दुर्लभ जन्म गँवाकर कामादिकको सुन्दर जानकर अंगीकार कर लेते हैं। (पं०) भक्ति पारस है। वह कुधातुको सुधातु करता है, यह दुराचारीको साधु बना देती है। यथा—**'अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः॥ क्षिप्रं भवति धर्मात्मा।'** (गीता ९। ३०-३१) गुंजा देखनेमात्रका सुन्दर वैसे ही विषय-सुख देखनेमात्रके सुहावन हैं। (वै०)]

गौड़जी—१ पहिले कह चुके कि शरीर साधनधाम है और इसका फल या साध्य मोक्ष है अथवा परलोकका सँवारना है। जिसने न किया वह पछताता है। जो यह कहो कि 'साध्य विषय है और स्वर्ग है' तो कहते हैं कि साध्य विषय नहीं है और किसी साधनसे स्वर्ग मिले भी तो उसका भोग भी बहुत थोड़ा है और अन्तमें उसका परिणाम दुःख ही है। जिन लोगोंने ययातिकी तरह मनमाने कालतक विषयभोग किया है वे इसके गवाह हैं। यदि कहो कि वासना प्रबल है, मन नहीं मानता, तो मनपर अंकुश रखनेकी आवश्यकता है, अंकुश न रखे और मन विषयमें लगावे तो कहना चाहिये कि वह परलोक-सुधाररूपी सुधा छोड़कर विषयरूपी विष ग्रहण कर लेता है। जो पारसको छोड़कर घुँघुची ग्रहण कर ले अर्थात् नरदेहको साधु-सरीखा स्पर्शमणि न बनाकर विषयसे मुँह काला करता है और अपनेको गुंजाकी तरह जलील बना लेता है, ऐसे मनुष्यको कोई भला नहीं कहता।